श्रीकृष्णाय नमः ।

द्वितीयस्कन्धप्रथमाध्यायः ।

श्रीसुबोधिनी ।

हिन्दीभाषाटीका सहित

विद्याविलासि श्रीनाथद्वाराधीश तिलकायित-

श्री १०८ श्रीगोविन्दलालजी-

महाराज की आज्ञा से

भाषान्तरकर्ता-

देवर्षि-रमानाथशास्त्री विद्याविभागाध्यक्ष-

वेदान्तभूषणशुद्धाद्वैतभूषणसाहित्यरत्नमहामहोपदेशक-

संशोधक-

देवर्षि-व्रजनाथशास्त्री विशारद,

विद्याविभाग से प्रकाशित ।

सम्वत् १९९८ किम्मत ॥) श्रीवल्लभाब्द ४६२

श्रीकृष्णाय नमः ।

द्वितीयस्कन्धप्रथमाध्यायः ।

श्रीसुबोधिनी ।

हिन्दीभाषाटीका सहित

विद्याविलासि श्रीनाथद्वाराधीश तिलकायित-

श्री १०८ श्रीगोविन्दलालजी-

महाराज की आज्ञा से

भाषान्तरकर्ता-

देवर्षि-रमानाथशास्त्री विद्याविभागाध्यक्ष-

वेदान्तभूषणशुद्धाद्वैतभूषणसाहित्यरत्नमहामहोपदेशक-

संशोधक-

देवर्षि-व्रजनाथशास्त्री विशारद,

विद्याविभाग से प्रकाशित ।

सम्वत् १९९८ किम्मत ॥) श्रीवल्लभाब्द ४६२

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवत और इसकी टीकायें।

श्रीमद्भागवत पर टीका, भाष्य, टिप्पण करने या कुछ भी विचार करने के लिए लेखनी उठाने वाले विद्वान् को सबसे पहले इस बात का निर्णय कर लेना चाहिये कि श्रीमद्भागवत क्या है ? श्रीमद्भागवत में क्या है और श्रीमद्भागवत के बनाने की क्या अपेक्षा थी ?

१—श्रीमद्भागवत क्या है ?

कितने ही इसका उत्तर देते हैं कि श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णकथा है। कितने ही कहते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण है। कोई कहता है कि श्रीमद्भागवत उत्तमोत्तम सरस महाकाव्य है। कुछ विद्वान् लोग इसे वेदान्तसार कह रहे हैं। किन्हीं का कहना ये भी है कि श्रीमद्भागवत तो परमहंस संहिता है। कितने ही इसे सात्त्वतसंहिता मानते हैं। कितने ही कहते हैं कि श्रीमद्भागवत शास्त्र है और कितनों का यह मत है कि यह साक्षाद्भगवान् है। और कितनों का मत है कि यह समाधि भाषा है।

किन्तु मेरी समझ में यह आया है कि श्रीमद्भागवत सब कुछ है। यह श्रीमद्भागवत साक्षात् परब्रह्मपूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णका शब्दरूप आनन्दमय ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप है। जिस तरह 'पुरुष एवेद ँ सर्वम्' कह कर वेदमें पुरुष को सब विश्वरूप कहा है इसी तरह जब श्रीमद्भागवत को भगवान् का स्वरूप मानलिया तब उसे सब कुछ मान लेनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। पूर्वोक्त सारे विकल्प भगवान् के स्वरूप में एकीकृत हो जाते हैं। क्यों कि भगवान् का स्वरूप ही यह है, ऐसा ही है।

बहुत से टंटाखोर तार्किक कहने लगते हैं कि इसमें प्रमाण क्या है ? प्रमाण है मेरा दिल। पूर्वोक्त पक्षान्तरों का संग्रह करने वालों से मैंने कभी जाकर पूछा था कि आप श्रीमद्भागवत को ऐसा क्यों मानते हो ? मानते हैं उनका दिल। जब अपने अपने दिलकी बात कहने का सबको अधिकार है तब मेरे साथ ही महायुद्ध क्यों ?

बस, इतनी सी बात पर ही कितने ही झगडालू मुझे मूर्ख कह बैठते हैं। इसने न्याय नहीं पढा, इसे मीमांसा आती नहीं, इसको वेद की तो खबर ही नहीं है।

ये महायोद्धा लोग जिस समय किसी के भी विचार में प्रवृत्त होते हैं तो वेद से प्रारंभ करते हैं। यह विषय वेदोक्त है या नहीं। घरमें पानी पीने के लिये मटकी रखनी है पर वह वेदोक्त होनी चाहिये। अगर वह वेदोक्त नहीं है तो उसे फोड डालना ही प्रमाण प्राप्त है।

पर मैं ऐसा नहीं हूं । मैं तो इन हवाई लोगों से बचता ही रहना चाहता हूं । 'आ बैल मुझे मार' यह कौनसी बुद्धिमानी है । मैं इन्हें निमन्त्रण देने नहीं जाता, जो दिलमें आया बस वही कह बैठता हूं । बस मैंने कह दिया है कि 'श्रीमद्भागवत भगवान् का स्वरूप है' ।

क्यों ! ! ! खूब रही, इस 'क्यों' ने तो मेरे पेटमें खलबली मचादी । अब क्या करूं । यह अखण्ड सौभाग्यवती तो सबके साथ लगी हुई है 'क्यों' 'क्यों' 'क्यों' ।

नहीं, नहीं ! ! क्यों का उत्तर यों ! ! 'लशक्वतद्धिते' किसी के हित को हटाना हो तो क का लोप करदेना उचित है इस लिये सशास्त्र क लोप कर दिया । अब ये क्यों बाईजी खण्डसौभाग्यवती हो गईं, यों ! !

प्रमाणी लोग पूछते हैं कि क्यों ? तो मैं उत्तर देता हूं, कि भगवान् का स्वरूप है, यों ! स्वरूप में क्यों नहीं चलती । यहां यों का ही राज्य है । क्यों कुछ (सब) के साथ 'अटति' लगी रहती है, पर, यह यों पतिव्रता है । यह अपने अपने स्वरूप के साथ ही रहती है !, चुम्बक लोहे को क्यों खेंचता है ! इसका उत्तर यही है कि उसका स्वरूप ही ऐसा है 'यों' आंच गरम क्यों लगती है । उसका स्परूप है यों । प्रमेय में प्रमाण का प्राबल्य नहीं । स्व-स्वरूप का ही प्राबल्य है ।

स्वरूप प्रमेय है, इसमें 'क्यों' नहीं चलती । यहां तो जो है उसे मानो । परब्रह्म का स्वरूप है कि वह सब कुछ है, इसमें क्यों कैसी ? श्रीमद्भागवत का स्वरूप तुम्हारे आगे है, देखलो, समझ लो इसमें पूर्वोक्त सब ही विकल्प मिलते हैं या नहीं ।

एक दिन एक पिलपिला योद्धा मुझ से पूंछ ही बैठा कि क्यों जी यह तुम्हारा दिल (मन) कहां से बना ? मैंने सोच सुचाकर उत्तर दिया भाई मेरा यह दिल (मन) भागवत में से ही तयार हुआ है । मेरा ही नहीं, करम सीधे होने चाहियें, जो कोई भी विद्वान् इस भागवत का खूब अभ्यास करेगा उसका ही ऐसा दिल तयार हो सकता है । मैंने श्रीमद्भागवत का खूब विचार और अभ्यास किया है । इस लिये मुझे मालूम हो गया है कि श्रीमद्भागवत कृष्णकथा है, पुराण है, उत्तमोत्तम सरस काव्य है, वेदान्त का सार है, परमहंस संहिता है, सात्त्वत संहिता है, शास्त्र है और साक्षात् भगवान् है । व्यास की समाधि भाषा है । परब्रह्म का स्वरूप है इतने सब कुछ है । मुझे श्रीमद्भागवत ने समझाया है कि 'श्रोत्रमनोभिरामात्' यह उत्तमोत्तम सरस महाकाव्य है । 'श्रीमद्भागवतं पुराणममलं' यह पुराण है । 'लीलावतार कर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः' । 'कृष्णकथाः प्रगायतां' यह श्रीकृष्ण की कथा है । 'सर्ववेदान्तसारं यत्' यह वेदान्तसार है । 'पुराणं ब्रह्म (वेद) संमितं' 'यस्मिन्पार-

महंस्यमेकममलं' यह पारमहंस्य संहिता है। 'चक्रे सात्वतसंहिताम्' यह सात्वत संहिता है। 'शास्तीति' लोकान अधिगतपरमपुरुषार्थ का उपदेश करता है इस लिये ये श्रीमद्भागवत शास्त्र तो है ही, 'अपश्यत्पुरुषं पूर्णं' यह व्यास की समाधि भाषा है। और 'कृष्णद्युमणि निम्लोचे' 'पुराणाऽर्कोऽधुनोदितः' इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि यह भगवान् का साक्षात्स्वरूप है, तो सब कुछ है। फिर इसमें क्यों की गवि नहीं है।

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने आज्ञा की है कि 'एकं शास्त्रं देवकी पुत्रगीतम्। 'तद्विस्तारो भागवतम्' 'शास्त्रं संदेहवारकम्' भगवान ने कहा हुआ गीताशास्त्र ही प्रधान शास्त्र है और गीता का ही विस्तार भागवत है। वेद सूत्र और गीता इन सबका सन्देह श्रीमद्भागवत में जाकर दूर हो गया है। अतएव सर्व सन्देह निवारक होने से श्रीमद्भागवत ही उत्तमोत्तम शास्त्र है।

शास्त्र अपूर्व होना चाहिये। अन्यथा अनुवादकृत अप्रामाण्य हो जाता है जिस बात को हम सुन चुके, जान चुके उसे ही कोई यदि सुनाने समझाने लगे तो वह अनवधेय वचन होता है अप्रामाणिक कहा जाता है। वेद के रहते भागवत की क्या अपेक्षा थी। जो इसे बनाया गया? यदि वेदमें जो बातें कही हैं वेही बातें ज्यों कि त्यों गीता भागवत में भी कही हैं तो फिर वे दोनों वेद का ही अनुवाद होने से अप्रमाण हैं। लोकानधिगतार्थगन्तृत्वं प्रामाण्यम्। लोकमें किसी ने भी न जाना हो ऐसे अर्थ को समझावे उसे प्रामाण्य कहते हैं।

वैदिक शास्त्र शब्द का तो इतनाही अर्थ है कि वेद ईश्वरवाणी है इसलिये उसका विरोध न आना चाहिये। अनुकूलता रही आवे। श्रीमद्भागवत आदि पुराण भी वेदार्थ के अनुकूल हैं विरुद्ध नहीं हैं। इससे यह नहीं कह सकते कि वेदका अनुवाद हैं। वेद के सन्देह को दूर करने के लिये गीता भागवत आदि की अपेक्षा है ही। इनमें वेदार्थ का विस्तार है, खुलासा है, निर्णय है। सर्वनिर्णायक श्रीमद्भागत है इसलिये इसका प्रामाण्य हमारे लोगों के लिये विशेष है। इसके प्रामाण्य की परीक्षा वेदव्यासजी ने गुरुवचन एवं समाधि के द्वारा करली है,

अतः श्रीमद्भागवत भी लोकोद्धार के लिये स्वतन्त्र शास्त्र है। साधनोपदेष्टा है। किन्तु पुराणरूप में वेद है। ज्ञानभण्डार है। केवल वेदरूप में कहने से सर्वोपयोगी न रहते। वेदकी तरह ये भी त्रिवर्णोपयोगी रह जाते। सो न हो जावै इसलिये पुराण, पुराण रूपमें ही कहे गये हैं।

उनमें श्रीमद्भागवत महापुराण है। परब्रह्म की सर्गादि दशलीलाओं (धर्मो) का जहां निरूपण हो उसे महापुराण कहते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण है इत्यादि जितने विकल्प पूर्वमें किये जा सकते हैं वे सब श्रीमद्भागवत में मिलते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणों का स्वरूप में

समन्वय हो रहा है । देख लीजिये । जिसका विषय उसी में मिल जाय तो उत्तम है श्रीमद्भागवतका विषय वेदमें से निकलना इसे मैं ठीक रहते भी उत्तम नहीं मानता । भगवान् साकार है या निराकार यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत में से ही निकालना उत्तम है। वेद के सिद्धान्त वेदमें मिलने चाहियें । पुराण के पुराण में ।

यदि कोई कहे कि तुम्हारे जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी ने भी 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि' इत्यादि ग्रन्थों में वेदों को सबसे पहले प्रमाण में रक्खा है तो इसका उत्तर इतना ही है कि ठीक है । जगत् का अन्धकार दूर कर प्रकाश पहुँचाना यह जगद्गुरु का अर्थ है। "गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते" उन्हें सारे जगत् को सम्हालना है। जगत् में ऐसे अधिकारी भी हैं जिन्हें वेदकी अतिसंक्षिप्त परोक्ष वाणी से ही सब कुछ समझ में आ जाता है, कोई सन्देह नहीं रहता । ऐसे अधिकारियों के लिये पदार्थों का या सिद्धान्तों का निरूपण वेदवाक्यों से यदि कर दिया जाय तो वह सर्व सामान्य की समझ में नहीं आ सकता । सर्व सामान्य के लिये तो सर्वसन्देह निरासक श्रीमद्भागवत की अपेक्षा है ही। इस लिये जगद्गुरु भले केवल वेद वाक्यों से ही सिद्धान्त निर्णय करें करावें पर हमें तदनन्तर प्रभवों की तो श्रीमद्भागवतादि को भी साथ लेना उचित है । अत एव कहा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वेदका मिलान इतिहास पुराणों से कर लेना चाहिये क्योंकि वेदार्थ को भय है कि यह थोडा पढा लोक मुझे कहींका कहीं ले जाकर फेंक देगा। पुराणों के मेलसे वेदार्थ का इतस्ततः हो जाना सम्भव नहीं । अति संक्षेप का अतिविस्तार श्रीमद्भागवत है। भगवद्गीता में सन्देह निरास पूर्वक क्रमसम्बद्ध वेदका अर्थ है, पर सूत्र रूपसे है। और श्रीमद्भागवत ने गीता के अर्थ को सर्वसन्देह निरास पूर्वक अतिविस्तार से पुराणरूप में कह दिया है । सर्व सामान्य जनता सर्वसन्देहनिरास पूर्वक विस्तार से कहे गये पुराणों से जिस तरह सिद्धान्तों को समझ सकती है उस तरह अति संक्षिप्त परोक्षवाणी वेदों से नहीं समझी जा सकती । अत एव लोकमें श्रीमद्भागवत का विशेष प्रामाण्य है और विशेष मान है ।

एक बात और भी है । जिन विद्वानों को भगवत्प्रेरणासे कहो या इच्छा से कहो, अपनी मनमानी बातें पुराणों में से निकालनी है । वे लोग पुराणों को स्वस्वरूपसे नहीं पर वेदार्थ से प्रामाण्य लाना चाहते हैं । वेदार्थ है अति संक्षिप्त और परोक्ष भी, अत एव खेंचातानी करके उसमें अपनी मनमानी बातें घुसाकर उन्हीं बातों को न निकलते हुए भी वेद प्रामाण्य की धोंस देकर पुराणों में निकालना चाहते हैं । किन्तु उनका यह प्रयास व्यर्थ ही है ।

पुराण सब के सब अति विस्तृत हैं और सब की समझ में आवें ऐसी भाषा में हैं। यद्यपि उनमें कई भाषायें हैं तथापि उन सबका समन्वय कर लेने से सन्देह दूर हो जाता है। ऐसी अवस्था में पुराणों का वेदों के द्वारा प्रामाण्य सिद्ध करना व्यर्थ है उसका प्रामाण्य तो उसके स्वरूपमें ही मिल रहा है।

चार बातें मनमानी हैं-१ ज्ञान ही केवल परब्रह्म पुरुषोत्तम है। २ वह परब्रह्म निर्विशेष है। उसमें धर्म आकार क्रिया प्रभृति कोई भी विशेष (धर्म) एकदम नहीं है। ३ जगत् सबका सब झूठा ही है। ४ और आनन्दादिधर्मरहित केवल चिन्मात्र रह जाना ही परम मोक्ष है, परम पुरुषार्थ है।

ये चारों सिद्धान्त वेद में ज्यों के त्यों कहीं नहीं मिलते। किन्तु वेद की अति संक्षिप्त और परोक्ष भाषा का दुरुपयोग करके उसमें से अपनी मन मानी बातें खींच तान कर निकाली गई हैं। और फिर उन को वेद की झूठी आड में रह कर पुराणों में भी बताई जाती हैं।

वेद किं वा पुराणों में प्रकट और अप्रकट परब्रह्म का निरूपण है। उसी का सर्व सन्देह-निरासपूर्वक निरूपण श्रीमद्भागवत में भी है। इतना भेद है कि वेद में अप्रकट परब्रह्म का निरूपण ज्यादा है और श्रीमद्भागवत में प्रकट परब्रह्म का निरूपण ज्यादा है और सो होना भी ठीक है। वेद थोडे अधिकारियों के लिये हैं। और श्रीमद्भागवत चातुर्वर्ण्य के लिये है। सर्व सामान्य के उद्धार के लिये बने हैं। परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूपसे ही प्रकट और अप्रकट दोनों तरह का है।

अप्रकट परब्रह्म नियताधिकार है और प्रकट परब्रह्म सर्वाधिकारिक है अत एव पुराणों में प्रकट परब्रह्म का निरूपण है। और 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि निरूपण अप्रकट परब्रह्म का है। इसमें हानि क्या ? जो अप्रकट है वह निर्विशेष कहा जाय तो ठीक है क्यों कि उसका प्रकाश लोक में नहीं हो सकता। किन्तु सब का सब ही ब्रह्म निर्विशेष है यह कहना तो किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं है।

श्रीमद्भागवत सर्वाधिकारक है इस लिये इसमें विशेषकर प्रकट परब्रह्म का दशलीलायुक्त विस्तार से निरूपण है। यदि परब्रह्मस्वरूप से केवल अप्रकट निर्विशेष ही है यह मानाजाय तब तो बहुत सा वेद, गीता भागवत आदि सबही ग्रंथों का खण्डन हो जाता है। सबका सामञ्जस्य और प्रामाण्य तो, ब्रह्म को निर्विशेष सविशेष सधर्मक निर्धर्मक और प्रकट अप्रकट दोनों तरह का मान लेनेसे ही हो सकता है। प्रकार में द्वैत दोषावह नहीं।

लोगों की मानी हुई चारों बातें ऐसी ही हैं। ब्रह्म को निर्विशेष मान लेने से, जगत् सब का सब झूठा है इसको मान लेनेसे, आनन्दादि रहित मोक्ष मान लेने से, और ज्ञान को ही

केवल परब्रह्मका स्वरूप मानलेने से बहुतसे वेद भाग को, गीता को और श्रीमद्‌भागवत को अप्रामाण्य हो जाता ह ।

इस आपत्ति को कितने ही विद्वान् 'मायिक' और 'सगुण' आदि शब्दों का उपयोग करके दूर करना चाहते हैं किन्तु यह भी उनकी मनमानी कल्पना है । लोक में असमर्थ जीवों को देख कर परब्रह्म को भी वैसा ही मान लेना भूल है । यद्यपि जीव जगत् सबही कुछ उस परब्रह्म का ही रूपान्तर है किन्तु तथापि रूपान्तर तो है । उन जगद्वर्ती रूपान्तरों में यदि विरुद्ध बातें न पाई जाती हों या न मानी जा सकती हों इस लिये वह मुख्यरूपमें भी समर्थ ब्रह्म में भी नहीं बनती, नहीं मानी जा सकती, यह कह देना बिल्कुल भूल है । सगुण निर्गुण मायिक अमायिक शब्द भी ऐसे हैं ।

'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादि वेदवाक्य जब उसे सर्वसामर्थ्यवाला स्वीकार कर रहे हैं तब विरोध कैसा ? वह सब कुछ रहते भी उसमें कोई दोष नहीं आ सकते । इस लिये वे चारों बातें इनकी मनमानी हैं । शास्त्रसिद्ध नहीं हैं यह ठीक है ।

ये विद्वान् इन अपनी मनमानी बातों को पुराण श्रीमद्भागवत में भी निकालने के लिये वीज निरूपण 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इस प्रथम श्लोकमें स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण दो तरह का परब्रह्म निरूपण करना चाहते हैं । ये कहते हैं कि पूर्वार्ध में तटस्थ लक्षण निरूपण है और उत्तरार्ध में स्वरूप लक्षण निरूपण है ।

पहले तो यही विचारणीय है कि स्वरूपलक्षण क्या और तटस्थलक्षण क्या ? 'गङ्गायां घोषः' की तरह तटस्थ लक्षण तो है नहीं । क्यों कि वहां स्वरूप का स्पर्श नहीं होता किन्तु 'जन्माद्यस्य यतः' श्लोक में दोनों तरह स्वरूप का ही परामर्श हो रहा है । 'जन्म आदि यस्य यतः तद्ब्रह्म,' यहां और 'यत् सत्यं परं' यहां, दोनों जगह ब्रह्म स्वरूप का ही स्पर्श होता है । एक जगह कार्य के द्वारा ब्रह्मस्पर्श हो रहा है और दूसरी जगह स्वरूप के द्वारा ब्रह्म का स्पर्श हो रहा है । लक्षण के प्रकार में कुछ भेद भले हो किन्तु स्वरूप में कोई भेद नहीं आता है । कार्य लक्षण होने से ब्रह्मस्वरूप में न्यूनता नहीं आती और स्वरूप लक्षण होने से ब्रह्मस्वरूप में कुछ महत्त्व नहीं आता । प्रत्युत कार्य लक्षण से महत्त्व प्रत्यक्ष दीख रहा है । परब्रह्म का कार्य यह जगत् है । इसकी रचना पालन और संहारादि अतीव आश्चर्य कारक है । जगत् का स्वरूप ही ऐसा है कि सर्वांशेन किसी के समझ में नहीं आता । ऐसे विश्वकार्य का करने वाला जब ब्रह्म है तब उसका महत्त्व कितना है, यह हरएक समझदार मान सकता है । अतएव मायिक पण्डितों की पूर्वोक्त सब बातें मनमानी हैं अन्तःसार शून्य हैं । वास्तविक बात तो यह है कि जैसे प्रकटाप्रकट परब्रह्म स्वरूप का लक्षण वेद है, इसी तरह

प्रकटाप्रकट परब्रह्म के स्वरूपका निरूपण करने वाला श्रीमद्भागवत है। यह बीजरूपसे दिखाने के लिये यह 'जन्माद्यस्य यतः' श्लोक है। ग्रन्थकर्ताओं की यह पुरानी धारणा है कि ग्रन्थ के आशय को प्रारम्भ में बीज सूक्ष्मरूप से कह देना। वेद का बीज गायत्री है और यही भागवत का भी बीज है। यह दिखाने के लिये गायत्री की तरह इस श्लोक में भी कार्य और स्वरूप के द्वारा परब्रह्म का लक्षण या स्वरूप कह दिया है। इस में न्यूनता और महत्ता की कोई बात नहीं है। लोक में किसी का कार्य के द्वारा भी निरूपण होता है और स्वरूप के द्वारा भी। इस लिये दोनों तरह से परब्रह्म का निरूपण इस श्लोक में है।

परब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम एक है किन्तु अपनी स्वेच्छा से अनेक रूप धारण करता है यह सब शास्त्रों का सिद्धान्त है। उनमें अवतारादि, विशेष कर श्रीकृष्णभगवान् उसी पूर्णपुरुषोत्तम परब्रह्म का प्रकट स्वरूप है। श्रीकृष्णभगवान सर्वांशतः साक्षात् परब्रह्म हैं, यह गीता और भागवत दोनों से सिद्ध है। और दूसरा अप्रकट परब्रह्म भी है जो सर्वत्र व्याप्त रहता है। इन दोनों प्रकार के परब्रह्म का स्वरूप बीजरूप से इस श्लोक में कहना है वह इस में स्पष्ट है। दोनों तरह के ब्रह्मस्वरूप का निरूपण इस श्लोकमें है।

जिससे इस जगत् के जन्मादि होते हैं, जो इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण है, जो पदार्थों को समझने में सर्वज्ञ है और जिसका प्रकाश किसी अन्य से न हो कर सर्वदा अपने आपसे ही होता है, जिसने वेदों को बनाकर ब्रह्मा को सिखाये, जिस भगवान् के स्वरूप का और उस के नामरूपात्मक कार्य का निरूपण करने में उत्तमोत्तम अधिकारी विद्वान् लोक भी भूल खा जाते हैं और जो सत्य और सर्व श्रेष्ठ या छुपा हुआ रहता है वह परब्रह्मपूर्णपुरुषोत्तम है। यह श्लोक का तात्पर्य है। अप्रकट परब्रह्म तो केवल ऐश्वरीय शब्दगम्य है। इस लिये उस में तो किसी तरह का सन्देह नहीं आता। किन्तु प्रकट परब्रह्म श्रीकृष्णादि स्वेच्छा से प्रत्यक्ष भी हैं इस लिये मनुष्य के बुद्धिदोष से कुछ सन्देह आ सकते हैं। श्रीकृष्णादि में देह इन्द्रिय और अन्तःकरण तथा इनके कार्य भी प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। तो फिर ये परब्रह्म कैसे ? यह सन्देह होता है।

इस सन्देह को दूर करने के लिये कहा है कि 'यथा तेजो वारिमृदां विनिमयःमृषा तथा यत्र (स्वरूपे) त्रिसर्गः मृषा'। अर्थात् जिस तरह तेज जल और मिट्टी का परस्पर एक दूसरे में दीखना वह झूठा है इसी तरह श्रीकृष्णादि स्वरूपों में सात्त्विक अन्तःकरण, राजस इन्द्रिय, और तामस देह, इन तीनों की सृष्टि जो दीख रही है वह झूठी है। देखने वालों का बुद्धिभ्रम ही है। वहां कुछ नहीं है। इन का तो स्वरूप (आनन्द) ही देह इन्द्रिय अन्तःकरण सब कुछ है। उन के देहादि सब स्वरूपात्मक हैं। स्वरूप से ही देह इन्द्रिय

और अन्तःकरण के कार्यों को करता है। 'पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः' वह पुरुषोत्तम लौकिकचक्षु के न होने पर भी देखता है। कर्ण न रहने पर भी सुनता है। क्यों कि उस के स्वरूप का सामर्थ्य (शक्ति) अनन्त और विविध है।

यहां जगत् को झूठा या सांचा कहने की बात ही नहीं है। केवल परब्रह्म को सब तरहसे समझा देना बस इतना कार्य है सो श्लोक के सबही वाक्यों से समझ में आता है।

इसालिये इस श्लोक में या समग्र श्रीमद्भागवत में मोहक विद्वानों की पूर्वोक्त चारों बातें कहीं भी नहीं हैं यह निश्चय है। यदि इनमें से एकभी बात सत्य हो तो फिर भगवान् का महत्त्व ही क्या और गीता भागवत आदिका भी महत्त्व कैसा ? जब भगवान् को केवल निर्विशेष निर्धर्मक निराकार निष्क्रिय मानलिया तब भगवान् कैसा ? और उसका माहात्म्य क्या और उसका निरूपण करने वाले ग्रन्थही क्या और कैसे ? इसालिये जो लोग वेद में से या भागवत, गीता आदि ग्रन्थों में से पूर्वोक्त चारमनमाने सिद्धान्तों को निकालना चाहते हैं वे तो भगवान् के और वेदादिशास्त्रों के सब माहात्म्य को ही डुबोना चाहते हैं।

अब यह सिद्ध हो चुका कि श्रीद्भागवत भगवान् का ही अलौकिक शब्द रूप स्वरूप है। और इसमें भगवान् के स्वरूप का और उनकी दशलीलाओं का निरूपण है। और इसके पाठ, अर्थावगम और कहे गये साधनों के द्वरा चातुर्वर्ण्यादिलोक का उद्धार होता है इसलिये इसके बनाने की आवश्यकता हुई।

श्रीमद्भागवतर पर, सुनते हैं बीस बाईस टीकाये हैं किन्तु मुझे तो ८–९ टीकाये देखने को मिली हैं। उन में कथार्थ को ही विशेषता दी है। वास्तव में तो भागवत शास्त्र है। अत एव सिद्धान्तार्थ अर्थ का ही प्राधान्य रहना उचित है। जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य कृत सुबोधिनी टीका में सिद्धान्तार्थ को ही प्राधान्य दिया है। अत एव परब्रह्म विषयक, भगवल्लीला विषयक और भगवद्धर्म विषयक सब सन्देह दूर हो जाते हैं। और इसी लिये श्रीद्भागवत की सर्वसन्देह निरासकता सिद्ध हो जाती है। अब श्रीमद्भागवत की कुछ अन्तरङ्ग विषय विवेचना और भी कर देना उचित मालुम देता है।



॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवत, द्वितीयस्कन्ध, और प्रस्तुत प्रथमाध्याय-सुबोधिनी के विषय में

कुछ वक्तव्य

श्रीमद्भागवत महापुराण है यह सर्व प्रसिद्ध है । किन्तु यह वेद नहीं, पर वेदवत् है, यह रहस्य है । इस में वेदधर्मों का अतिदेश है । जिस तरह वेद में नित्य और काम्य, प्राकृत और विकृत दो तरह के धर्मों का निरूपण है । इसी तरह से इस में भी पांच नित्यपुरुषार्थों का और काम्य पुरुषार्थों का निरूपण है । धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति । इन पांच पुरुषार्थों का निरूपण पुराणों में है । 'इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते' इत्यादि वाक्यों से इसे वेदवत् माना है । मत्स्यपुराण में कहा है कि—

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्च परिकीर्त्यते ।
सर्वेष्वेव पुराणेषु तद्विरोधेषु यत्फलम् ॥

भक्ति भी पुरुषार्थ है । सब ही जीवों में अपने अपने इष्ट में महत्त्व ज्ञान पूर्वक प्रीति होती है बस यही भक्ति कही जाती है । पुराणसार में कहा है कि पुराणों में भक्ति का दर्शन है—

शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा ।
स्कान्धं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि ॥

श्रीमद्भागवत भी महापुराण है, इस लिये इस में भी पांचो पुरुषार्थ हैं । अतिथि पूजन, सत्कार आदि नित्य धर्म है और काम्यधर्म पयोव्रत आदि । ब्राह्मणादि का नित्य अर्थ कुम्भी कुसूलधान्य आदि है । काम्य अर्थ इला को पुरुष बनवाना । नित्यकाम, स्वस्त्री में ऋतुगमन आदि । और काम्य काम, आग्नीध्र का पूर्वचित्तिगमन, नित्य मोक्ष सायुज्य, और काम्यमोक्ष सालोक्य आदि ।

भक्ति दो प्रकार की है शास्त्रोक्त और स्वाभाविकी । इन दोनों तरह की भक्ति का निरूपण भागवत में है । वेद में धर्म के अंग छः कहे गये हैं द्रव्य देश काल कर्त्ता मंत्र और प्रकार । ये छहों धर्म के अंग श्रीमद्भागवत में भी हैं ।

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।
कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ॥

इत्यादि वाक्यों में छहों अङ्गों का निरूपण है ।

श्रीमद्भागवतादि महा पुराणों के कर्त्ता व्यास नहीं हैं किन्तु भगवान् हैं अत एव वे नित्य हैं, भगवद्रूप हैं ।

मत्स्यपुराण में कहा है कि—

पुराणं सर्व शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

वेद तो त्रिवर्णोपयोगी है किन्तु श्रीमद्भागवत सर्वोपयोगी है । सब का उपकारक है । यह द्वितीयस्कन्ध के प्रथमाध्याय के ५ वें श्लोक में स्पष्ट है । वेदादि सब शास्त्रों का हृदय पुराण है । ' पुराणं हृदयं स्मृतम् ' । अत एव पुराणों का ज्ञान आवश्यक है । इन के ज्ञान बिना मनुष्य मूढ कहा जा सकता है । धर्म के तत्त्व का ज्ञान पुराणों से ही होता है । पुराणों से वेदार्थ का सन्देह दूर होता है । अत एव कहा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वेद के अर्थ का समन्वय इतिहास और पुराणों के साथ करलेना आवश्यक है । क्यों कि इन दोनों से अपरिचित विद्वान् से वेद डरता है कि कहीं मुझे कहीं का कहीं ले जाकर न डालदे । मेरा अर्थ कुछ का कुछ न करदे । सृष्टि के सब ही पदार्थों का यथार्थ ज्ञान पुराणों से होता है । ' प्रह्लादो ह वै कायाधवः ' इत्यादि श्रुतियों में जो कयाधू प्रभृति शब्द आये हैं उन का स्वरूपज्ञान पुराणों से ही हो सकता है । इसलिये वेदार्थ करने में जैसे मीमांसा का उपयोग होता है इस तरह पुराणों का भी होता है ।

जैसे एक वेद के चार विभाग हैं और फिर उन के भी शाखाविभाग किये गये हैं इसी तरह शतकोटिग्रन्थसंख्या वाले एक पुराण के अनेक विभाग किये गये हैं ।

मत्स्यपुराण में कहा है कि—

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो द्विजाः ।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥

चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते ॥

ये पुराण सात्त्विक राजस तामस तीन प्रकार के हैं । इस श्वेतवाराहकल्प में त्रिविध जीव हैं। इस लिये तीनों प्रकार के पुराण कहे गये हैं । वास्तविक मुक्ति सात्त्विक पुराणों के साधनानुष्ठान से होती है । किन्तु मुक्तिफल सब में ही कहा गया है उसका अर्थ केवल इतना ही है कि जो जिस अवस्था में है वह उस अवस्था को छोड कर उच्च अधिकार पर आ जाता है। पूर्व अवस्था से मुक्त हो जाता है ।

किन्तु श्रीभागवत निर्गुण है । इस में निर्गुण परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप गुण लीलाओं का निरूपण है । वास्तविक मुख्य मोक्ष, निर्गुण हो जाने पर ही मिलता है । अति तामसता की निवृत्ति के लिये तामस पुराण हैं । तामस पन दूर करने के उपाय राजस पुराणों में हैं । और सात्त्विक पुराणों के साधनों द्वारा राजसत्त्व दूर होता है । और फिर सात्त्विक पुराणों के साधनानुष्ठान करने से निर्गुणता प्राप्त होती है । निर्गुणभक्त को वास्तविक मुख्य सायुज्य-मुक्ति मिलती है ।

पुराणों में ब्रह्मा के दैनन्दिन कल्पों में से कितने ही कल्पों का आधार लेकर भगवल्लीलाओं का निरूपण है । और समाधिभाषा, परमतभाषा, तथा लौकिकी भाषा तीन भाषायें हैं । इन सब का ज्ञान होने से सब सन्देह दूर होते हैं ।

श्वेतवाराह कल्प के वृतान्त को लेकर व्यासजी ने स्त्रीशूद्रादि के भी हितार्थ भारत का प्रकाशन किया । उसी में भगवदावेश से भगवद्गीता को भी कह दिया । वास्तव में समग्र गीता श्रीकृष्ण के ही वचनामृत हैं । शुकपक्षी जैसे दूसरे की प्रेरणा से संस्कृताक्षरों का उच्चारण करने लगता है इसी तरह भगवद्गीता व्यासमुख से प्रकाशित हुई है ।

गीता के प्रकाशन से भी व्यासजी को संतोष न हुआ । उन के हृदय में यह बात रही आती थी कि लोकोपकार के विषय में अभी कुछ और भी मुझसे बाकी रह गया है । वास्तविक वेदार्थ का निःसन्दिग्ध निरूपण अभी नहीं होने पाया है । तब भगवान् ने ही अपने हृदयरूप नारद जी को भेज कर व्यासजी के हृदय में श्रीभागवत का प्रकाश किया । नारद के उपदेश से और समाधि में भगवत्स्वरूप का सपरिकर दर्शन कर लेने से वेदव्यासजी को श्रीभागवत की समझ हो गई । अत एव उन्हों ने वेदशास्त्र, पुराण, इतिहास, आदि के सब ही भागवतों का संग्रह करके इस अष्टादशसहस्र संख्या वाले श्रीमद्भागवत का प्रकाशन किया और अपने पुत्र शुकदेवजी को दिया । यह भी महापुराणरूप से कहा गया ।

इस श्रीमद्भागवत में परब्रह्मपुरुषोत्तम की सर्गादिदशलीलाओं का निरूपण है इस लिये यह महापुराण कहा गया है । लौकिक लोगोंको जो वेदादिसाधनों का अनुष्ठान करने में विभिन्न प्रकार से अधिकारी हैं उनको पुराणों पर पूर्णविश्वास है इस लिये वेदरूप होने पर भी श्रीमद्भागवत को पुराणरूप से कहा । वेद से मनुष्य मात्र का उद्धार होना असम्भव है । अत एव यदि श्रीमद्भागवत को भी वेदरूप से प्रकट करते तो सर्वसाधारण की मुक्ति रुक जाती । इस लिये भी श्रीमद्भागवत को पुराणरूप से कहा । कलियुग में साधन और कर्ता दोनों दूषित हो चुके हैं । इस लिये वेद अपना और दूसरे का निर्वाह कर नहीं सकता । वेदार्थ के अनुष्ठान में द्रव्य देश काल कर्ता मन्त्र और प्रकार की आवश्यकता रहती है । किन्तु इन सब ही में कलियुगने घुस कर सब को दूषित अत एव दुर्बल कर दिया है । अत एव वेदके कहे यज्ञादि सब ही साधन यहां आकर सफल होने बन्द हो गये । इस लिये निःसाधनजनों का उद्धार कराने के लिये श्रीमद्भागवतशास्त्र का आविर्भाव हुआ ।

यद्यपि यहाँ भी कलि है ही तथापि निःसाधनजनोद्धारक पुरुषोत्तम का स्वरूप होने से कलियुग श्रीमद्भागवत को मलिन नहीं कर सकता । पूर्णपरब्रह्मपुरुषोत्तम का श्रीकृष्णावतार निःसाधनजनों का उद्धार करने के लिये ही हुआ है । उन श्रीकृष्ण ही का बल श्रीमद्भागवत को है । दुर्बल औषध भी जैसे बलवत् अन्य औषध की भावना से बलवान् हो जाती है । इसी तरह से देश कालादि साधन भी श्रीमद्भागवत के समय में भगवान् का बल होने से सबल होगये हैं । इसके अभ्यास मात्र से भी मुक्ति हो जाती है । कलिका संतरण हो सकता है ।

नारदजी से कहते समय ब्रह्माजी ने कल्पकल्पान्तर के भगवत्स्वरूप गुणों का संग्रह कर संक्षेप से श्रीभागवत को प्रकाशित किया और उनसे कहा कि " त्वमेतद्विपुली कुरु " तुम इसका विस्तार से बर्णन करो । फिर नारदजी ने ब्रह्मोक्त इसी संग्रह को वेदव्यासजी को सुनाया । और उन्हो ने भी व्यासजी से कहा कि ' प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितं महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ' । यह मैने तुम से संक्षेप से कहा है । अब तुम इसे अधिक करके कहो । इस तरह वेदोक्त भागवत का सार ब्रह्माने और उसी को विपुल विपुल करके नारद और व्यासजी ने कहा । यह भगवद्विभूतियों का संग्रह भागवत है ।

श्रीमद्भागवत का अर्थ श्रीकृष्णपुरुषोत्तम है । वह कालादि साधनों कि अपेक्षा नहीं रखता है । वह स्वयं असहाय शूर है । सुगम और फल साधक है अत एव इसको सात्वत संहिता परमहंससंहिता कहते हैं । जो सर्वथा श्रीकृष्णपरब्रह्म के ही आधीन हो चुके हैं उन

वैष्णवों को सात्वत कहते हैं। उनका यह वेद है। त्रैवर्णिकों को जैसे वेद पर पूर्ण प्रामाण्य भाव है, इसी तरह ऐकान्तिक वैष्णवोंका श्रीमद्भागवत पर पूर्ण विश्वास है। श्रीमद्भागवत को समाधिभाषा भी कहते हैं। समाधि में जिन पदार्थों का प्रकाश भगवान् ने कराया वेदव्यासजी ने श्रीमद्भागवत में उन उन पदार्थों का विपुलरीति से अपनी भाषा में प्रकाश कर दिया इस लिये यह व्यासकी समाधिभाषा है।

वेदरूप होने से इस के अक्षरों का भी अर्थ है। अत एव श्रीमद्भागवत का सिद्धान्त अर्थ सातप्रकार का है। कथा रूप अर्थ इससे पृथक् है। शास्त्र का अर्थ प्रथम। स्कंधों का अर्थ द्वितीय। प्रकरणार्थ तृतीय। अध्यायार्थ चतुर्थ। वाक्यार्थ पंचम। पदों का अर्थ षष्ठ। और अक्षरों का अर्थ सप्तम। सातों अर्थ समन्वित होकर जब एक अर्थ में आजावें तब भागवत का अर्थ पूर्ण होता है। इस अर्थ से फल की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवत में भी कई कल्पों की कथाओं का संग्रह है। कहा भी है कि '**संग्रहोयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुली कुरु**' कई विरोध, कल्प भेद से समाहित होते हैं और बहुत से विरोध भाषाभेदों के जान लेने पर दूर हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत ही शब्दार्थरूप में पुरुषोत्तम है। इसके शब्द भी पुरुषोत्तम हैं और अर्थ भी। जो लोग इस के केवल शब्दों का ही धारण कर लेते हैं तो वे श्रीकृष्णपुरुषोत्तम का धारण करते हैं। '**द्वादशो ह वै पुरुषः**' श्रुति के अनुसार पुरुषभगवान् द्वादशाङ्ग है। तदनुसार श्रीमद्भागवत के भी द्वादश अङ्ग बारह स्कन्ध हैं। इन बारह स्कन्धों में भगवान् के बारह धर्म किं वा बारह लीलाओं का निरूपण है। सर्गविसर्गादि लीलाओं का निरूपण तृतीयादि द्वादशस्कन्धपर्यन्त में किया है। और अधिकार तथा साधनों का निरूपण प्रथम द्वितीयस्कन्ध में है। भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट और अप्रकट हैं। व्यक्त और अव्यक्त है तथा अपरिछिन्न और एकदेशप्रकट भी है। व्यक्त प्रकट एवं एकदेशप्रकट पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। तथापि पूर्ण है सुगम है सर्वफलप्रद है सर्वसमर्थ है। इन प्रकटपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की अदीनत्व, लीलात्व, हसितत्त्व, ईक्षणत्व, उल्लसत्त्व, भ्रूत्व, भङ्गत्व, संकुचितत्व, भूरित्व और अनुग्रहत्व ये दशलीलायें हैं। इन का विस्तार से विवेचन हम उद्देशाध्याय के भाषान्तर में करेंगे। विवरणाध्याय ७ वां अध्याय इन लीलाओं का विवरणरूप है।

इस द्वितीयस्कन्ध में भगवान् की गौणलीला श्रवणाङ्गों का निरूपण है। भागवत श्रवण के भी अङ्ग है। श्रवणांग कहो या श्रवणसाधन कहो दोनो एक हैं। इस के तीन प्रकरण हैं। तत्त्वध्यान, हृत्प्रसाद और मनन। ये तीनों श्रवण के साधन हैं। श्रवण में तत्त्वनिर्धार प्रथम

अंग है। इस के भी स्थूलतत्त्वध्यान और सूक्ष्मतत्त्वध्यान ये दो विभाग हैं। ये दोनों दो अध्यायों में कहे गये हैं। दूसरा प्रकरण हृत्प्रसाद है। श्रद्धा भी हृत्प्रसाद है। श्रोता की श्रद्धा (विश्वास) और वक्ता की श्रद्धा, इस तरह से हृत्प्रसाद दो प्रकार का है यह भी दो अध्याय (तृतीय चतुर्थ) में कहा गया है।

तृतीय मनन प्रकरण में छ अध्याय कहे गये हैं। उत्पत्ति के द्वारा और उपपत्ति के द्वारा दो तरह से मनन किया जाता है। चिन्तन या विचार को ही मनन कहते हैं। जनन सामागम और आविर्भाव इन भेदों से उत्पत्तिरूप विचार तीनप्रकार का है। यह उत्पत्त्या मनन, पांच, छ और सात अध्यायों में कहा गया है। और उपपत्ति भी आशङ्का उत्तर और फल या संगति, इन तीन विभागों में विभक्त है। अत एव ८। ९। १० इन तीन अध्यायों में उपपत्त्या मनन का निरूपण है। इस तरह द्वितीयस्कन्ध के दश अध्यायों में द्विविध तत्त्वध्यान द्विविध हृत्प्रसाद और षड्विध मनन का निरूपण है।

द्वितीयस्कन्ध की तथा उस की टीका सुबोधिनी की भाषा प्रौढ सारगर्भ और बहुत सूक्ष्म है। तथापि वैदर्भी रीति होने से सरस एवं हृदयग्राहिणी है। इसकी भाषा अनुपम एवं अलौकिक है। श्रीभागवत के वक्ता वेदव्यास भगवान् हैं जो परब्रह्म का ज्ञानावतार हैं। इन का जीवन काल प्राचीनमत से ५ सहस्र वर्ष और नवीन मत से २॥ हजार वर्ष के पूर्व है। शास्त्रों में इन्हें कल्पायु भी कहा है इन का मुख्य आश्रम बदरिकाश्रम था। और शायद अब भी वहां हो। भगवान् का अवतार होने से इन का चरित्र अलौकिक है। इन का तप त्याग और ज्ञान अपार था। भागवतद्वितीयस्कन्ध का यह प्रथमाध्याय आपके हाथ में है। इस में स्थूल तत्त्व ध्यान या तत्त्वविचार है। तत्त्व अट्ठाईस हैं। भगवान् ही परिच्छिन्न होकर प्रकारान्तर से जब प्रकाशित होता है तब वह तत्त्व कहा जाता है। 'तस्य भावः तत्त्वम्' भगवान् के ही एक दूसरे प्रकार से दूसरे रूप से जो सत्ता उसे तत्त्व कहते हैं। ये तत्त्व तीन प्रकार के हैं। आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक।

अष्टाविंशति भेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः।
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तु॥

सद्रूप भगवान् के ही रूपान्तर ये तत्त्व हैं। ब्रह्माण्डरूपविराट् का निर्माण करने के ये अट्ठाईस कारण हैं। व्यष्टि और समष्टि दो तरह का ब्रह्माण्ड है। सारे जगत् में ऐसे अनन्त-ब्रह्माण्ड हैं। इन ब्रह्माण्डों पर यथा स्वरूप यथा योग्य सात सात आवरण हैं। इस का विशेष विवरण द्वितीयस्कन्ध द्वितीयाध्याय और श्रुतिस्तुति सुबोधिनी में है।

सत्त्व. रजस्, तमस् पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार। शब्दस्पर्शरूप रसगन्ध, पांचतन्मात्रा। ५ महाभूत-पृथ्वी जल तेज वायु आकाश। ५ कर्मेन्द्रिय—वाक्, हाथ, पांव मेढ़ू गुदा। ५ ज्ञानेन्द्रिय जीभ घ्राण आंख कान और त्वचा। १ मन। इस तरह सब मिलकर अट्ठाईस आधिभौतिकतत्व है। देवतारूप ये ही आधिदैविक हैं। और शक्तिरूप ये ही आध्यात्मिक हैं। माया प्रकृति हैं, काल पुरुष है सूत्र महत्तत्त्व में आजाता है। इसलिये अट्ठाईस तत्त्वों से विशेष संख्या नहीं होती।

इन सब तत्त्वों का एक भगवान् के ही अङ्ग में ध्यान या विचार करना तत्त्वध्यान है। सो सब इस अध्याय में कहा गया है। द्वितीयस्कन्ध मूल में ही कठिन और गम्भीर विषय है और फिर उस की सुबोधिनी और भी कठिन है। यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यचरण की वाणी अति सरल और अमृतवत् मधुर और हितावह है किन्तु अति सूक्ष्म और गम्भीरविषय होने से अति कठिन हो जाती है। एक प्रकाश के सिवाय अन्य साधन मुझे मिला नहीं है। प्रकाश में सब सुबोधिनी का अनुवाद नहीं है किन्तु परोक्ष और कठिनतम विषय का ही अनुवाद है। क्योंकि अन्य ग्रन्थ तो उन्हे सरल ही मालुम देता है। किन्तु हम जैसे क्षुद्रों के लिये तो सब ही कठिन होजाता है। तथापि जो कुछ जैसा तैसा अनुवाद करपाया है वह श्रीमदाचार्यचरण का असीम अनुग्रह ही है।

श्रीसुबोधिनी और भागवतार्थ निबन्ध दोनों मिलाकर एक भागवतार्थ है। ३ अर्थ भागवतसुबोधिनी में हैं और ४ अर्थ भागवतार्थनिबन्ध में हैं। यों मिलकर सप्तप्रकारक एकार्थ है। इस लिये मुझे भी सुबोधिनी के साथ में भागवतार्थनिबन्ध का अनुवाद भी देना पडा। मूलभागवत और मूलसुबोधिनी को ऊपर प्रकाशित करके उसके नीचे भावबोधिनी नामक भाषान्तर दिया है। भाषान्तर के तारतम्य और श्रम को समझने के लिये यह उचित है। प्रकाश का उतना ही अंश लिया है जिससे सुबोधिनीजी के भाषान्तर को साहाय्य मिले। विशेष अधिक परिष्कारों को छोड दिया है। व्यर्थ विस्तार के भय से। पुस्तक का विशेष कलेवर बढजाने के भय से भागवतार्थ मूलनिबन्ध प्रकाश का भी प्रकाशन नहीं किया है। केवल निबन्ध का ही किया है।

श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धप्रथमाध्यायः

श्रवणाङ्गानि

तत्त्वनिर्द्धार (२ अध्यायों में)　　हृत्प्रसाद (दो अध्यायों में)　　मनन (६ अध्यायों में)

स्थूलध्यान (प्रथमाध्याय में)　　सूक्ष्मतत्त्वविचार (द्वितीयाध्याय में

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवतद्वितीयस्कंधप्रथमाध्यायस्थसुबोधिनी—

सिद्धान्तानां सूचनिका ।

सुबोधिनीके सिद्धान्तों की सूची ।

१—भगवत्कृपया सत्सङ्गे सति सर्वतत्त्वजिज्ञासार्थं प्रश्नः कर्तव्यः ।

यदि भगवान् की कृपासे कभी सन्तोंका समागम हो जावै तौ सब पदार्थोंके तत्त्वको जानलेनेके लिये ही प्रश्न करना उचित है अन्यके लिये नहीं ।

२—सर्वात्मना कर्तव्यं नाम यस्मिन्नकृते कोपि पुरूषार्थो न सिद्ध्यति ।

जिसके न करने से किसी भी पुरूषार्थकी सिद्धि न हो सकै, वह सर्वात्मना कर्तव्य है ।

३—यथा क्षुधितस्याऽन्नदानं तथा साकांक्षस्य कर्तव्यकथनम् ।

जैसे भूखेको अन्न देना अवश्य कर्तव्य है इस तरहसे जो जिज्ञासासे प्रश्न करता है उसे उसके कर्तव्यका मार्ग बताना उचित है ।

४—आत्मनस्तत्त्वमनारोपितं रूपम् ।

आत्मा (सर्वव्यापक भगवान्) का तत्त्व वही है जो पीछेसे आरोपित न हो । पीछेसे आया हुआ न हो । वस्तु और वस्तुतत्त्व ये दो पदार्थ दुनियामें हैं । जैसे मिट्टी और घडा । घडा वस्तु है और उस (वस्तु) का तत्त्व मिट्टी है । घडेका जो रूप है वह पीछेसे आरोपित है आया है इसलिये वह तत्त्व नहीं होसकता । किन्तु मिट्टीका रूप पीछेसे आरोपित आया हुआ नहीं है इसलिये वह वस्तुतत्त्व है । अर्थात् आत्माका अनारोपितरूप शुद्ध चेतन (ज्ञान) है अत एव विशुद्ध ज्ञान ही वस्तुतत्त्व है । और वही आत्मा है।

५—तैर्विविक्तात्मस्वरूपं ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । ते हि गृहमेधिनः, गृह एव पर्यवसितमतयः । तेषां गृहोपयोगि यद्धवेत्तदेव ज्ञातव्यम् । विविक्तात्मा तु गृहस्य बाधकः । अतो न ज्ञातव्यः ।

जिन लोगों की निश्चित की हुई सब बुद्धियां केवल घरमें ही लग रहीं हैं, उन संसारीलोगों को आत्मा के शुद्धस्वरूपको समझ कर करना ही क्या है ? उन्हे तो उन बातोंको समझना है जो घरके उपयोगी हों । विविक्त (शुद्ध) आत्मा की समझ तौ उनके घरको ही मटियामेट कर देती है । इसलिये आत्मतत्त्व उन्हे नहीं समझना है ।

६— गृहे त्रयो मुख्याः, देहः पुत्रो भार्या च । तन्मूलका अन्ये । ते च स्वभावतो गुणतश्च दुष्टाः । यत आत्मनाशकाः । एत आत्मसैन्यान्यात्मानमेव शत्रुभिर्घातयन्ति ।

घरमें तीन मुख्य हैं, देह पुत्र और अपनी स्त्री । इनके सिवा अन्य सब इनको लेकर हैं । किन्तु ये तीनो स्वभावसे और गुणसे दोषवाले हैं । क्यों कि आत्माको भुला देते हैं । देहका स्वरूप और गुण दोनो आत्माको भुला देते हैं । पुत्र भी स्वभाव और गुणसे अपनपेको भुला देता है । और स्त्री भी अपने को कहींका कहीं ले जाती है, यह सबको मालुम ही है । यद्यपि ये तीनों आत्माकी सेना हैं रक्षक हैं तथापि बदमाश होनेसे मालिक आत्माको उसके शत्रुओं से ही मरवा देते हैं । काम क्रोध लोभ मदमोह और मत्सरता ये आत्माके शत्रु हैं ।

" काम एष क्रोध एष····विद्ध्येनमिह वैरिणम् । गी०

७—तस्मात् येषां संसाराद्भयमस्ति तद्भयनिवृत्त्यर्थं च यतन्ते तेषां ·····भगवान् श्रोतव्यः । अभयप्रेप्सवस्त्रैवर्णिका एव भवन्तीति नास्ति नियमः । अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानामभयेच्छा संभवात् अतस्तेषामुपायो वेदे नोक्त इति तदर्थं वक्तव्ये साधने··········सर्वोपयोग्येक एवोपायो वक्तव्यः । तस्मात्सर्वेषामेको य आत्मा भवति स एव श्रोतव्यः ।

इसलिये जिन्हे संसारसे भय मालुम देता है और जो उस भयकी निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं उन्हे भगवान् की बातें सुनना उचित है । निर्भय होने की इच्छा, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य त्रैवर्णिक को ही होती है ऐसा कुछ नियम नहीं है । जिन शूद्र चाण्डाल स्त्री आदिने भी पहले पुण्य किये हों उन्हे भी भय दूर करने की इच्छा हो सकती है । किन्तु उनको निर्भय होनेका उपाय वेदमे नहीं है । क्यों कि वेदके अध्ययन और जानने का उनका अधिकार ही नहीं है । इसलिये चारों वर्ण, और उनकी स्त्रियां इन सबके उपयोगमें आ सकै ऐसा एकही उपाय यहां कहना उचित है । सो भगवच्छ्रवण है । इसलिये सबको भगवान् का श्रवण करना चाहिये ।

८—भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः । गुणानामानन्त्येपि यथा दशविधलीलासु सर्वप्रवेशस्तथोत्तरत्र वक्ष्यते । अनुप्रवेशेपि यथाऽऽनन्त्यं तथापि वक्ष्यते ।

इस लिये सर्गविसर्ग आदि लीलाओं के कर्ता भगवान् को समझना और सुनना चाहिये । यह उपाय सब के उपयोगी है । यद्यपि भगवान् के गुण अनन्त हैं तथापि वे सब दशप्रकार की लीलाओं में ही आ जाते हैं । पूर्वोक्त लीलाओं में वे आजाते हैं तथापि अनन्त ही रहे आते हैं, यह सब आगे कहेंगे ।

९—त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृत्तानामेवाऽभयसाधकत्वम् । उत्तरावधिर्देहपातः । पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम् ।

श्रवण कीर्तन स्मरण इन तीनों की क्रम से आवृत्ति, देहगिरने के पहले पहले होती रहै, तब ये अभय के साधक होते हैं । अन्तिम अवधि देहपात, और पहला प्रारम्भ संसारभयकी समझ । जिस दिन

भयका ज्ञान हुआ उस दिन से मरणपर्यन्त श्रवण कीर्तन स्मरण करते रहना चाहिये ।

१०—तस्मात् वैदिकप्रकारेण भागवतप्रकारेण वा भगवति प्रवेशस्त्रैवर्णिकानां, अन्येषां तु भागवतप्रकारेणैव । न च व्यवस्थितविकल्पः । 'किं पुनर्ब्राह्मणाःपुण्या' इति वाक्यात ।

इस लिये वेदोक्तसाधन प्रकार से अथवा भागवतोक्त प्रकारसे, दोनों तरह से त्रिवर्णों का भगवान् में प्रवेश (सायुज्य) होता है । और इनसे इतर मनुष्यों को भगवत्सायुज्य, केवल भागवतोक्त साधनों से ही मिलता है । इसे व्यवस्थितविकल्प न समझ लेना चाहिये । अर्थात् त्रैवर्णिकों का वैदिक उपाय से सायुज्य होता है और अन्यों को भागवतप्रकार से सायुज्य होता है ऐसी व्यवस्था वाला पक्षान्तर न समझो । क्यों कि गीतामें भगवान् ने कहा है कि हे अर्जुन ! यदि पवित्र ब्राह्मण लोग मेरा भजन करें और उन का उद्धार हो इस में तो सन्देह ही नहीं है । इस लिये भगवन्मार्ग से त्रैवर्णिक अत्रैवर्णिक सब का ही भगवान् मे सायुज्य होता है यह ठीक ही है ।

११—सांख्ययोगौ धर्मशास्त्रं च सर्वाङ्गत्वेन प्रतिपादितम् ।

विचार (ज्ञान) शास्त्र योगाभ्यास, और धर्मशास्त्र ये तीनों भागवतोक्त सब ही साधनों के अङ्ग कहे हैं । श्रवणकीर्तनआदि में विचार, मनोयोग, और धर्माचरण, तीनों काम आते हैं ।

१२— भगवद्धर्माणामपि व्रतोपवासादीनां भगवदीयदेहसाधकत्वम् ।

एकादशी का व्रतउपवास आदि भगवद्धर्म भी भगवदीय देह को तयार करने वाले हैं ।

१३—अतो देहसाधकानां योगादीनां देहस्य च अयमेव लाभो यदन्ते नारायणस्मृतिः ।

इस लिये भगवदीय देह साधक योगाभ्यासादि साधन और उस से तयार हुआ भगवदीयदेह का भी लाभ यह है कि अन्तकाल में देह पात के समय श्रीनारायण भगवान् का स्मरण हो । साक्षाद्भगवान् के अनुगृहीत पुष्टिमार्गीयों का जन्मलाभरूप भगवदीयत्व इस से दूसरी बात है ।

१४—अत्र विषयरसादेव तथारमणम् । न तु कृतेर्धर्महेतुत्वेन । ते हि कृतिगुणदोषसम्बन्धरहिताः। 'दोषबुद्धयोभयातीतः' इतिवाक्यात् ।

निर्गुण अवस्था में भी जो मुनि लोग श्रीकृष्ण के गुणों के कीर्तन में इस तरह रमण करते हैं इस में कारण केवल भगवद्विषय का रस ही है । कृति की धर्महेतुता नहीं । ये मुनिलोग धर्माधर्म के विधि-निषेधों से छूट जाते हैं । धर्मप्राप्त हो इसलिये कुछ गुणगानादि करना चाहिये यह बुद्धि उन मे है ही नहीं वे तो यह समझते हैं कि भगवान् मे स्थित महापुरुष के लिये तो गुण और दोष दोनो दोष ही हैं । न उन्हें गुण की चाहना है न दोषसे घृणा । उन्हे तो भगवान् में ही रस आता है, इस लिये वस्तु-स्वभाव से ही वे भगवद्गुण कीर्तन किया करते हैं ।

१५—भगवता प्रोक्तं, भगवत्प्रतिपादकं, भगवत्फलकं च भागवतम् ।

जिसे भगवान् ने कहा, जो भगवान् का प्रतिपादन करनेवाला हो और जिस का फल भगवान् हो

वह भागवत कहा जाता है। भगवान् का स्वरूप ज्ञान भगवान् के गुण लीलाओं का ज्ञान प्रभृति सब भगवत्संबंधिवस्तु भागवत कहा जाता है।

१६—यदा भगवांल्लीलारूपेण प्रकटो जातस्तदा लीलायां यो रसः स एव रसो ब्रह्मणि, परं नाभिव्यक्त इति निश्चित्य, किमर्थं तदाशया स्थीयते। तदपेक्षयाऽपीदानीमेव रसः किं न पीयते, इति विचारसहित लीलया गृहीतचित्तत्वम्।

निर्गुण ब्रह्ममग्न मुनिलोगों का भी चित्त भगवद्गुण लीलाओं के गान में क्यों फस जाता है? सो कहते हैं- प्रकट ब्रह्म, और अप्रकट व्यापक ब्रह्म, दोनो में आनन्द रस है। किन्तु व्यापक अप्रकट ब्रह्म में जो रस है, वह अभिव्यक्त सब के समझ में स्वादमें, आवै ऐसा नहीं, अतिगूढ रहता है। जब वही ब्रह्म, सब के स्वाद में आने के लिये लोक में बाहर प्रकाशित होता है तब ये मुनि लोग विचार करते हैं कि-यही रस जब ब्रह्म में भी है तो फिर लीला सहित इस प्रकट ब्रह्म के रसका ही पान क्यों न करें, यों विचार सहित लीलाओसे उनका चित्त फस जाताहै। उस परोक्ष ब्रह्म की आशा से कबतक ठहरें।

१७—सूक्ष्मरूपभागवतद्वयं बहिःस्थितं भगवता ब्रह्मणाच प्रकटितमन्तः प्रवेश्य पुनः प्रकटितवान्।

ब्रह्मा और भगवान् ने नारद और ब्रह्मा के आगे भागवत प्रकाशित किया अर्थात् ब्रह्माने नारद से कहा और भगवान् ने ब्रह्मासे कहा। अत एव वह बाहर स्थित हुआ ये दोनोंभागवत सूक्ष्म हैं। उन दोनों को श्रीशुक ने अपने पिता के द्वारा अपने हृदय में भीतर धरा और फिर उपपत्ति के द्वारा विपुल करके राजा के आगे प्रकट किया।

१८—तत्र को भगवानित्याकांक्षायां सर्वात्मेत्यादिपदैः सर्वपुरुषार्थरूपः सर्वफलसाधकः सर्वमेव भगवानित्युक्तं भवति।

अब यहां यह जिज्ञासा होती है कि जिस का चरित्र और लीला भागवत कहा जाता है, वह भगवान् कौन है? इसके उत्तर मे पञ्चमश्लोक में 'सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः' पदों से सर्वरूप सर्वपुरुषार्थरूप सर्वफलों का साधक सबकुछ भगवान् है, यह कह चुके हैं।

१९—लौकिकयुक्त्यपेक्षायां सर्वस्यापि जगतो भगवच्छरीरे सन्निवेश उच्यते 'पुरुष एवेदꣳसर्वमिति श्रुतेः'।

वह भगवान् सर्वरूप है। इसमें लौकिक युक्ति की अपेक्षा है इसलिये सारे जगत् का समावेश पुरुष के शरीर में किया गया है 'विशेषस्तस्य देहोयम्' इत्यादि श्लोकों से स्थूलध्यान में। वेदमें तो पुरुष को सर्व रूप कहा ही है 'पुरुषः' इत्यादि वाक्यों से। यह सब कुछ विश्व पुरुषभगवान् है।

२०—पुरुषस्य शरीरे सर्वं, वचनेन निवेशितमपि यद्यनुभवेन विसंवादि स्यात्तदापि न मन्येत। अतस्तद्ध्यानरूपेण वदति। ध्यायमानस्य कदाचित्साक्षात्कारो भवेत्तदा तस्य शरीरे सर्वं पश्यन् निःसंदिग्धो भवेत्।

ठीकहै, यद्यपि वेदादिके वचनो में पुरुषके शरीरमें सब जगत् का सन्निवेश किया गया है तथापि यदि उसका अनुभवके साथ विरोध आता हो, किंवा अनुभवके साथ मिलान न खाता हो तो फिर लोक में कोई इसे न मानै। इसलिये भगवान् की सर्वरूपताको ध्यानरूपसे कहते हैं। कदाचित् ध्यान किये जाने वाले स्वरूपका भगवत्कृपासे साक्षात्कार हो भी जाय, तो फिर उस समय उसके शरीरमें सब जगत् को देखकर सन्देह रहित हो सकता है। समझ सकता है कि हां यह विश्व भगवान् है।

२१—सर्वावयवे मनसः स्थापनं धारणा। एकावयवे मनो धारणं ध्यानम्।

पुरुष भगवान् के सब ही श्रीअङ्गोंमें मनको ठहराना धारणा कही जाती है और एक एक श्रीअङ्ग में मनको ठहराना ध्यान कहा जाता है। धारणा या ध्यान दोनो में ही विजातीय ज्ञानसे रहित सजातीय ज्ञानकी धारा बनी रहनी चाहिये तब वह मनका स्थापन कहा जासकता है। '**पुरा आस पुरुषः**' सबसे पहलेभी जो था वह पुरुष '**पुरि वसतीतिपुरुषः**' इस देह में जो रहै वह पुरुष। '**पुरमुषतीति-पुरुषः**' इस देह को आत्मरूप कर दे वह पुरुष। यहां '**पुरा आस**' पुराना पुरुष नित्यवर्तमान भगवान् ही पुरुष शब्दसे लिया गया है।

२२—एक मप्यवयवमितरावयवैर्यथायोग्यं संश्लिष्टमेव ध्यायेत्। अनेन खण्डशो ध्यानं निवारितम्।

ध्यान करते समय भगवान् के एक एक श्रीअङ्गोंको दूसरे श्रीअङ्गोके साथ यथायोग्य मिले हुओंका ही ध्यान करे। अन्यथा पृथक् पृथक् ध्यान, खण्ड ध्यान होजाता है। ऐसे ध्यान करनेका निषेध है।

२३—चित्तप्रसादे यत्प्रकाशते तज्जीवात्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य स्थानम्।

चित्त जब धारणादिके द्वारा निर्मल शुद्ध हो जावे तब जो कुछ चिच्छक्ति प्रकाशित होती है वही जीवका आत्मस्वरूप है। और यह शुद्ध निर्मल आत्म ही पुरुषोत्तम भगवान् का धाम-है स्थान है। अन्तर्यामिब्राह्मणमें कहाभी है कि '**य आत्मनि तिष्ठन्**'

२४—देहात्मनोः संयोगसंबंध इति सांख्याः। तदेकदेशिनो योगिनश्चाऽध्यास इति। आवेश इत्यपरे, अयोगोलकवत्। अहंकारेणाऽहमिति स्वीकार इत्यपरे। ते चत्वारोपि पक्षा भगवतो देहस्य च सम्बन्धप्रतिपादका न भवन्ति। किन्तु स्वस्वामिभावसंबन्धः।

आत्माशब्द भगवद्वाचक है। यह आत्मरूप भगवान् दो प्रकारका है। प्रतिव्यक्ति भिन्न और सर्वव्यापक। दोनों के साथ देहका संबंध होता है स्वेच्छासे। और जीवत्व प्राप्त होने पर कर्म परंपरासे। यह वासनास्कंधसे स्पष्ट है। अस्तु यहां तो यह विचारहै कि देह और आत्माका परस्पर संबंध कौनसा है?

सांख्यशास्त्रवाले इसको संयोग संबंध कहते हैं। उनका कहना है कि देहके अणु अणु में आत्मा संयुक्त है। मायावादी और योगशास्त्रवाले देह और आत्माके संबंधको अध्यास (भूल) **कहते है। उनका कहना है कि आत्मा** व्यापक **ब्रह्मके** सिवाय, देहादि कोई पदार्थ **ही नहीं है। फिर उसका संबंध कैसा?**

यह दीखता हुआ देहादि जगत् तो अध्यास (भ्रम) है । कितने ही कहते हैं कि आत्मा और देहादि जगत् दोनो पदार्थ जुदे जुदे हैं । लोहेके गोलेमें जैसे अग्नि समा जाता है इस तरह यह आत्मा देहमें समाता है । बस अवश्य ही इन दोनो का संम्बन्ध है ।

कितने ही कहते हैं कि यह सब कुछ नहीं है । आत्मा, अहंकारसे देहको (अहं) मैं, इस तरह स्वीकार कर लेता है बस यही इनका संम्बन्ध है । किन्तु भागवतके मतमें इन दोनोका स्वस्वामिभाव संबंध है । आत्मा, देहादि जगत्का स्वामी भोक्ताहै, और देहादि जगत् उसका स्व है भोग्य है । भोग करने के लिये भोक्ता इसमे प्रवेश करता है । इन दोनोका भोक्तृभोग्य संबंध है ।

२५—तत्र यो वैराजः पुरुषो द्वितीयपुरुषरूपो यः सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्धः 'असौ' इत्यनुभवसिद्धश्च स एव वैराजो विराट्शरीरे प्रविष्टः न तु जीवविशेषः कश्चित् । यथा अयोगोलके वह्निः । यथा वा कमलस्थितो भ्रमरः । यथा वा प्रासादस्थितो राजा ।

ब्रह्माण्डरूपविराट्पुरुष प्रथम है । वह अक्षरात्मक है । अक्षर भी प्रथम पुरुष है । इस विराट् पुरुषके सात आवरण हैं । उन उन सातों आवरणोमें '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' श्रुतिके अनुसार द्वितीय पुरुष अन्तर्यामीने प्रवेश किया है । अन्तर्यामी को भगवच्छास्त्रोमें द्वितीय पुरुष और मध्यम पुरुष नाम से कहा है और योगियों को हृदय के भीतर इसका अनुभव भी होता है । इसलिये वे लोग इसे 'असौ' भी कहते हैं । ब्रह्माण्डविराट् के सप्तावरणोमें यदि यह वैराज पुरुष प्रवेश न करै तो वे नियममें न रहैं इस लिये यह पुरुष इस विराट् में प्रवेश करता है । इस लिये शास्त्रमें इसे वैराज पुरुष भी कहा है । यह कोई जीव विशेष नहीं है । यह सप्त कोशो में, रहता है । जैसे काष्ठ में लोहे के गोले में, अग्नि । जैसे कमल की डोडी में भ्रमर । किंवा जैसे महल में राजा ।

२६—कर्म भगवतो गुणप्रवाहः । सत्त्वरजस्तमसां देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपः ।

गुणोंका प्रवाह ही भगवान् का कर्म है । सत्वगुण रजोगुण और तमोगुणों के समूह से देव, पशु पक्षि मनुष्य आदि सृष्टि करते रहना यह भगवान् का काम है ।

२७—ब्रह्मभावः कश्चिद्धर्मः । यस्मिन् विद्यमाने ब्राह्मणशब्दवाच्यो भवति पुरुषः । ब्राह्मण्यापरनामा । ब्राह्मण्यं न जातिः । व्यक्तिसङ्करेपि तस्या अपगमात् । 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' इति वाक्यानुरोधात् । नियतव्यञ्जकाभावात् च । ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातत्वं चतुर्मुखे, तत्पुत्रेषु मानसेषु च अव्यापकम् । ऋषभ पुत्रेषु एकशीतिर्ब्राह्मणा बभूवुरिति वाक्याच्च । तस्माच्छास्त्रे बहुवाक्यविरोधात् । ब्राह्मण्यं काचित् देवता । सा यस्मिन् एव देहे अभिव्यक्ता भवति ते ब्राह्मणा इत्युच्यन्ते । अत एव शापादिना शूद्रत्वं चाण्डालत्वं, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वमिति । सा चोपनयनेन देहे समायाति । तदा बहूनि वाक्यानि संगच्छन्ते । एवं क्षत्त्रम् ।

ब्रह्मभाव एक भगवान् का धर्म है । यह जिस पुरुष में रहता है वह पुरुष ब्राह्मण शब्दसे कहा गया है । इस धर्मका ही दूसरा नाम ब्राह्मण्य है । किन्तु ब्राह्मण्य, कोई जाति पदार्थ नहीं है । जाति पदार्थ वास्तव में कल्पित पदार्थ है । '**जाति व्यक्तिविभागोयं यथा वस्तुनि कल्पितः**'

भाग. । ब्रह्मभाव पदार्थ में ही जाति और व्यक्ति की कल्पना कर ली गई है । व्यक्ति भी कोई पृथक् पदार्थ नहीं है । किन्तु जो दीखने समझने में आता है वह व्यक्ति, वह वस्तु है ।

यदि ब्राह्मण्य कोई जाति पदार्थ होता तो व्यक्ति के रहते चला कहां जाता ? और जाति को चली जाती लोक में और शास्त्र में मानते हैं ।

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
तस्यां तनयमुत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥

शूद्रा से सम्भोग करके ब्राह्मण हीन गति को प्राप्त होता है । और अगर उसमें उससे सन्तान पैदा हो जाय तो वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मण जाति से ही रहित हो जाता है । इस वाक्य से ब्राह्मण्य का चला जाना सिद्ध है । और लोकमें तो बुरे कर्म करने से जातिका चला जाना प्रसिद्ध है ही यदि कोई यहां 'हीयते' का 'हीन ब्राह्मण हो जाता है' ऐसा अर्थ करके जाति रही आती है ऐसी कल्पना करे, तो ऐसी कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है ।

यदि कोई जाति को अव्याप्यवृत्ति खण्डोपाधि मानकर कहे कि कहीं रहती है, कहीं नही भी रहती है, तो फिर प्रश्न यह होता है कि जहां यह ब्राह्मणत्व जाति रहती है वहां उसकी पहचान क्या है ? यदि कहो कि क्रोध तेज प्रभृति धर्म ही उसकी पहचान है । तो कहना पड़ेगा कि ये धर्म तो चारों वर्णोंमें मिल सकेंगे । क्या सबहीं को ब्राह्मण अब्राह्मण मानने पडेगे । इसलिये नियत पहचान न होनेसे ब्राह्मणत्व जाति नहीं हो सकती ।

यदि कोई कहे कि ब्राह्मण से ब्राह्मणी में जो पैदा हो, बस यही उसकी जाती की पहचान है । तो भी ठीक नहीं होता । ब्रह्मा जो सबका मूल है वह ब्राह्मण से ब्राह्मणी में कहां पैदा हुआ है । जब वह ऐसा नहीं है, तो उससे पैदा हुए ब्राह्मण, ब्राह्मण कैसे कहे जावेंगे । यदि कहो कि 'ब्राह्मणोऽस्य' विराट् भगवान् से ब्राह्मण जाति पैदा हुई है तो कहना पडेगा कि ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातत्व तो यहां भी नहीं हैं । यदि कहो कि मरीचि आदि ब्रह्मपुत्रों के पुत्रादि ब्राह्मण जाति हैं तो कहना पडता है कि वे सब मानस हैं अतएव ब्राह्मण से ब्राह्मणी में पैदा हो वह ब्राह्मण यह पहचान वहांभी नहीं लग पाती । और उन सबको, शास्त्र में ब्राह्मण तो माना है ।

यदि '**ब्राह्मणाज्जातत्वं** ब्राह्मणजाति कहो तो अनुलोम संकर को भी ब्राह्मण मानना पडेगा । क्यों कि ब्राह्मण से वह पैदा हुआ है । यदि ब्राह्मण्यां जातत्वं कहो तो फिर चाण्डाल को भी ब्राह्मण कहना पडेगा । क्यों कि वह ब्राह्मणी में पैदा हुआ है । इसलिये जाति को सखण्डोपाधि मानना भी अशक्य है ।

कोई कहता है कि जिस के माता पिता विशुद्ध हों ऐसा पुत्र ब्राह्मण। इस पहचान में कोई दोष नहीं है। तो कहना पडता है कि फिर भी एक आपत्ति आती है। ऋषभदेवजी और उन की रानी दोनो विशुद्ध पिता माता थे। उनके सौ पुत्र हुए। उनमे नौ वैष्णव भागवत हो गये, दश क्षत्रिय रहे और छोटे इक्यासी पुत्र ब्राह्मण हो गये। यह क्या ? सब ही ब्राह्मण होने चाहिये थे। इस लिये जाति के होने मे कोई नियत व्यंजक न मिलने से ब्राह्मण्य जाति नहीं हो सक्ती। किन्तु ब्राह्मण्य तो एक आध्यात्मिक किंवा आधिदैविक पदार्थ है। आध्यात्मिक ब्राह्मण्य धर्म, किं वा ब्रह्मभाव। और आधिदैविक मानने पर एक देवता। ब्राह्मण्य को देवता मानने से ही बहुत से शास्त्रवाक्यों का विरोध नहीं आता, सब की संगति बैठ जाती है।

यह ब्राह्मणण्य देवता जिस पुरुष में अभिव्यक्त होती है वह ब्राह्मण कहा जाता है। अभिव्यक्ति कर्म धर्मो से मालुम पडती है। ऐसी अवस्था में जहां शापआदि से शूद्र हो जाना, चाण्डाल हो जाना किं वा अनुग्रह से फिर ब्राह्मण हो जाना कहा गया है वहां सर्वत्र ब्राह्मण्यादि देवता माना ने से ही संगति बैठती है। यह ब्राह्मण्य-देवता उपनयन हो जाने पर देह में आती है, अब सब वाक्यों की सङ्गति हो रहती है। इसी तरह क्षत्रियत्व वैश्यत्व शूद्रत्व आदि भी देवतारूप हैं।

यहां जाति शब्द का खण्डन नहीं है किन्तु जाति को जो लोग पृथक् पदार्थ मानते हैं उन का खण्डन है। जातिशब्द तो **जननं जातिः** ठीक ही है। **द्विजातिः द्विजन्मा** ठीक ही है। '**मातुर्यदग्रे जननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्**' यहां जनन शब्द से जातिः उत्पत्ति ही लीगई है। यहां कितने ही बहिर्मुखविद्वानोके सत्सङ्गी साम्प्रदायिक विद्वानभी इससुबोधिनीकाअर्थ बदलनेकी कोशिश करते है। क्यों कि बहिर्मुखशास्त्रोंका चिराभ्यास होनेसे वैसे वैसे विद्वानो का निरन्तर संघर्ष रहनेसे उन्हे यह डर होताहै कि इस सुबोधिनी को सत्यस्वरूपमे स्वीकार करलेनेसे हम समाजान्तरमें तो न चलेजांयगे ? कहीं कर्मधर्मका विलय तो नही होजायगा ? जातिशब्दका तो खण्डन नही है।

मेरी उनसे नम्रप्रार्थना हैकि सुबोधिनी अमृतहै विष नही। इसका कार्य लोक को सन्मार्गमे लेजाना है असन्मार्ग दिखाना नहीं '**बाहिर्मुख्यमदर्शनात्**' सुबोधिनी के न देखने से बहिर्मुखता आती है, देखने से नही।

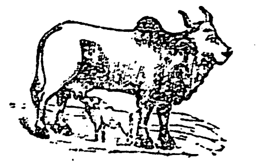
इसका खूब अभ्यास करो विचार करो श्रीवल्लभाचार्य जो सिद्धान्त एक बार कह जातेहैं फिर दूसरी बार उसका पिष्टपेषण नही करते उन सिद्धान्तो का तुम्हे स्मरण रखना चहिये सुबोधिनीजीका समाधान सुबोधिनीमे ही है। देखना चाहिये समझना चाहिये।

ब्रह्मण्ययको देवता मनने मे धर्मका विप्लव नहीं होसक्ता जैसे उपनयनसे ब्रह्मण्य आताहै वैसे ब्राह्मण मे रही हुई ब्राह्मण्यदेवता जननसे उसके पुत्रमेभी आतीही है। '**जात्या ब्राह्मण एव सः** वह

जाति से **ब्राह्मण** ही है। यहां जाति शब्द से कोई जाति पदार्थ पृथक् नहीं लिया है । किन्तु जातिको '**जननं-जन्म**' अर्थ है । अर्थात् जात्या अर्थात् ब्राह्मण्यदेवता युक्त जन्मसे, वह ब्राह्मणहै। पितामें जो ब्राह्मण्यदेवताथी वह आंशिक रूपसे पुत्रमेंभी आई । यहां यहां जाति शब्द का अर्थ है उसको लेकर ही '**ब्राह्मणस्योपनायनम्**' कहा गया है जाति को लेकर नहीं, अन्यथा '**जन्मना जायते शूद्रः**' आदिका विरोध आवेगा '**अशूद्रः**' आदि अर्थ कर लेना इसमें कोई प्रमाण नहीं है । ऐसे मनमाने अर्थ करलेनसे शास्त्रका विप्लवहो जाता है ।

यदि ब्राह्मण्य जाति ही होती देवता न होती तो '**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्**' इत्यादि वाक्यों का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा । ब्राह्मण्य आताभी है और जाता भी है, यह जब सब शास्त्रों को संमत है तब उसे जाति कैसे मान सक्ते हैं । वह देवता ही है । ब्राह्मण से जो पुत्र होता है उस में पिता का ब्राह्मण्य जनन रूप जाति आता है । अब शूद्रादि ब्राह्मण नही होसक्ते । क्यों कि उसमें जननागत ब्राह्मणंश नहीं । यह आजकल की व्यस्था है । पुरासमय का चातुवर्ण्य तो जो है उसका निरूपण कर ही चुके । मेरे लिखे '**वर्णदर्शनं**' ग्रन्थ में यह सब स्पष्ट है ।

अनुवादक—
देवर्षि-रमानाथशास्त्री
श्रीविद्याविभाग (श्रीनाथद्वार)



॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगोवर्द्धनोद्धरणधीराय नमः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमाय नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्तिजगद्गुरुश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचिता

श्रीभागवत द्वितीयस्कन्ध सुबोधिनी.

(श्रवणाङ्ग स्कन्धः)

सुबोधिनीकारिकाः ।

स्कन्धे तु प्रथमे प्रोक्तास्त्रिविधा ह्यधिकारिणः ।
तेषां कर्त्तव्यनिर्द्धारो द्वितीये विनिरूप्यते ॥ १ ॥
तस्मिन्निर्द्धारिते पश्चात्क्रियाविषयसङ्कथा ।
अग्रे च तां प्रवक्ष्यामस्तृतीयादिभिरुत्तमैः ॥ २ ॥
निर्द्धारणेऽङ्गत्रितयं वस्तुनिर्द्धारणं पुरा ।
श्रद्धा चैव विमर्शश्च वस्तुनिर्द्धारणं पुनः ॥ ३ ॥
प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च ।
एकत्र मानमेये हि फलं साधनमेकतः ॥ ४ ॥
अतोऽत्र वस्तुनिर्द्धारे ह्यध्यायद्वितयं मतम् ।
श्रद्धाऽपि द्विविधा लोके श्रोतृवक्तृविभेदतः ॥ ५ ॥
फलोपकार्यङ्गमेतन्नाऽधिकारे ततो विशेत् ।
विमर्शोऽपि द्विधा पूर्वमुत्पत्त्या चोपपत्तितः ॥ ६ ॥
त्रिविधे द्वे ततस्तत्र षडध्यायास्ततो दश ।
तत्र तु प्रथमेऽध्याये कर्त्तव्यं विनिरूप्यते ।
वस्तुनस्तत्त्वनिर्द्धारो मानमेयविभेदतः ॥ ७ ॥

देवर्षिरमानाथशास्त्रिकृता—

भावबोधिनी भाषाटीका ।

श्रीभागवतपीयूषविभूतं वाङ्मयं महत् ॥
भाषया योजये यावद्बुद्धि तत्कृपया क्षमः ॥ १ ॥
देवर्षि—रमानाथः ।

अधिकारस्कन्ध नामक प्रथमस्कन्ध में उत्तम मध्यम कनिष्ठ, श्रोता और वक्ता तीन तरह के कह आये। वहाँ ही उनके प्रकर्षापकर्ष के कारण भी कह चुके। अब इस श्रवणाङ्गस्कन्ध-नामक द्वितीयस्कन्धमें उन तीनों अधिकारियों का कर्त्तव्य निर्धार कहते हैं। जहां तक कर्त्तव्य का निर्धार न हो ले, वहां तक कर्त्तव्यविषयकी चर्चा नहीं चलाई जा सकती। सर्ग विसर्ग आदि भगवल्लीलायें कर्त्तव्यविषय हैं, उनकी चर्चा और विचार, तृतीयस्कन्ध आदि उत्तम अधिकार और लीलाप्रतिपादक स्कन्धों में करेंगे।

तीनों प्रकार के अधिकारियों के कर्त्तव्य का निर्धार करने में भी तीन अङ्ग हैं, पहिले वस्तु-निर्धार, फिर श्रद्धा, और फिर वस्तुविचार। कर्त्तव्यवस्तु का निर्धार भी प्रमाण प्रमेय साधन और फल की दृष्टि से होता है। इन चारों में प्रमाण प्रमेय की एक कोटि है, और साधनफल की दूसरी कोटि है। इस लिये इस स्कन्ध में वस्तुनिर्धार करने में कोटिद्वय के दो अध्याय हैं। भगवान् सहित भगवल्लीला ही श्रोतव्यनिर्धार का विषय (वस्तु) निर्धार है। वह इस स्कन्ध के प्रथम द्वितीय अध्यायों में संक्षेप से किया है।

श्रद्धा भी, श्रोता की और वक्ता की, इस प्रकार दो तरह की है। यह श्रद्धा आनन्दानुभव-रूपफल का उपकारक अङ्ग है इस लिये इसका पूर्वस्कन्धोक्त अधिकार में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसीलिये अधिकारस्कन्ध में इसकी चर्चा नहीं की गई। वस्तुविचार भी पहिले उत्पत्ति और फिर उपपत्ति के द्वारा होता है। और वह भी जनन समागम प्राकट्य (उत्पत्ति) तथा आक्षेप, सिद्धान्त और फलरूप (उपपत्ति) से किया गया है इस लिये उत्पत्ति के तीन और उपपत्ति के भी तीन, यों वस्तुविचार में छः अध्याय कहे गए हैं। तत्त्वनिर्धार में दो, श्रद्धामें दो, और वस्तुविचार में छः अध्याय, इस तरह इस श्रवणाङ्गस्कन्ध में कुल दश अध्याय हैं।

अब इस प्रथमाध्याय में प्रमाण और प्रमेय की दृष्टि से तत्त्वनिर्धार किया जाता है। समझने के विषयको प्रमेय कहते हैं। और समझने के करण अथवा साधनको प्रमाण कहते हैं। और इस रूप में कर्त्तव्य का निर्धारभेद संक्षेप में ही कह दिया है ॥ १–७ ॥

सुबोधिनी ।

पूर्वस्कन्धेऽधिकारनिरूपणे परीक्षितो मुख्याधिकारं निरूप्य तेन किं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायां भगवत्कृपया सत्संगे सति सर्वतत्त्वजिज्ञासार्थं प्रश्नः कर्त्तव्य इति प्रथमं प्रश्नद्वयं कृतम् । सर्वात्मना किं कर्त्तव्यं म्रियमाणैश्च किं कर्त्तव्यमिति । सर्वात्मना कर्त्तव्यं नाम यस्मिन्नकृते कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्धयति तत्सर्वात्मना कर्त्तव्यम् । तत्राऽधिकारिणो न निर्द्धारिताः । ते चोत्तरदानसमये निर्द्धारणीयाः । म्रियमाणानां कर्त्तव्यनिर्द्धारो द्वितीयः । ये पुनः श्रोतव्यादिपञ्च पदार्थाः पृष्टास्ते यथायथमेतन्निरूपणेनैव निरूपिता भविष्यन्ति । कांश्चिदग्रे निरूपयिष्यामः । अतो द्वयं निरूपणीयम्--सर्वात्मना कर्त्तव्यं म्रियमाणैश्च कर्त्तव्यमिति । तदर्थं सर्वेषां वस्तूनां याथात्म्यं निरूप्यं फलमुखमंगं श्रद्धा निरूप्या विचारश्च निरूप्यः । एतेषामावश्यकत्वं तत्तत्प्रकरणे निरूपयिष्यामः । तत्र सर्वात्मना कर्त्तव्यनिर्द्धारं चतुर्दशश्लोकैराह--वरीयानित्यादिभिः । कर्त्तव्यनिरूपणात्पूर्वमभिनन्दनं कर्त्तव्यं प्रश्नस्य हेतुत्वार्थम् । यथा क्षुधितस्याऽन्नदानं तथा साकाङ्क्षस्य कर्त्तव्यकथनम् । अधिकारनिर्द्धारश्च कर्त्तव्यः । विशेषतः पूर्वं प्रश्नशेषतया अनिरूपणात् । प्रेक्षापूर्वकारिणं प्रवर्त्तयन्फलमनिरूप्य विधिः प्रवर्त्तयितुं न शक्नोति । अतः फलनिर्द्धारार्थमधिकारो निरूपणीयः । तत्र दोषत्रयं निराकार्यम् । तदर्थं त्रयः श्लोकाः । तत्र प्रथमं प्रश्नमभिनन्दति—

भावबोधिनी भाषाटीका ।

अब यह विचार होता है कि भगवल्लीला श्रवण करने के मुख्याधिकारी राजा परीक्षित् सदृशने अपने उद्धार के लिये 'क्या करना' यह पूछा। इस का उत्तर यही है कि उसे यदि भगवत्कृपा से श्रीशुकसदृश सन्त, व उत्तम वक्ता मिल जांय, तो जगद्वर्ती सब पदार्थों के वस्तु तत्त्व को जानने के लिये प्रश्न करना उचित है । और राजाने भी अत एव दो प्रश्न किये कि 'सब तरह से क्या करना चाहिये ? और मरते समय क्या करना चाहिये ? यह सब अधिकारस्कन्ध के अन्तिम अध्याय में हो चुका । यद्यपि श्रीशुकदेवजी के पधारने के पहिले राजा ने अन्य ऋषियों से 'श्रोतव्यादि' और भी पाँच प्रश्न किये थे, किन्तु उनका दो प्रश्नों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये 'सब तरह से क्या और मरने वाले को क्या करना चाहिये' ये दो प्रश्न ही उत्तरदेने के लिये बाकी रह जाते हैं ।

जिसके किये बिना किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि हुई न कही जाय, वह कार्य सर्वात्मना कर्त्तव्य है । ऐसा कर्त्तव्य आत्मवस्तुनिर्धार है । 'मैं क्या हूं' यह अपनपे का बोध हुए बिना पुरुषार्थमात्र की वास्तविक सिद्धि होना असम्भव है, इसलिये आत्मवस्तुनिर्धार ही सर्वात्मना कर्त्तव्य है। आत्मवस्तु निर्धार के अधिकारियों का निरूपण, उत्तर देते समय ही किया जायगा । म्रियमाण का कर्त्तव्यनिर्धार दूसरे प्रश्न का अर्थ है । और जो पाँच प्रश्न और भी पूछे गये वे तो इन दो प्रश्नों के निरूपणमें ही दत्तोत्तर हो जाते हैं । बाकी जो कुछ रह जांयगे उन्हें आगे भी निर्णीत करेंगे ।

आत्मतत्त्व का निर्धार करते समय सर्व वस्तुओं की यथार्थता भी बतानी पड़ेगी । फलाभियुक्तअङ्ग श्रद्धा का भी पृथक्करण, और उन सब का विचार भी करना होगा । इन तीनों का विचार आवश्यक है, यह बात उस उस प्रकरण के आदि में ही कह देंगे ।

अब उन तीनों में से सर्वात्मनाकर्त्तव्य का निर्धार चौदह श्लोकों में कहते हैं 'वरीयानेष' इत्यादि से । कर्त्तव्यनिरूपण के पहिले ही प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का अभिनन्दन (प्रशंसा) करना भी आवश्यक है, अन्यथा यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि इतने आडम्बरसे यह उत्तर क्यों दिया गया । जैसे क्षुधित को अन्नदान करने में वैसे साकांक्ष को उत्तर देने में सार्थकता रहती है । और पहिले प्रश्नाङ्गरूप से अधिकार का भी निरूपण नहीं किया था सो अब यहां अभिनन्दनरूपसे ही सूचित कर दिया गया है ।

एक और भी बात है कि जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक किसी कर्त्तव्य को करना चाहता है उसके आगे फलका निरूपण किये बिना केवल आज्ञामात्र से वह कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो यह कठिन है। इस लिये फलनिर्धार के लिये भी अधिकार का निरूपण कर देना अपेक्षित है । इस उत्तम अधिकार में तीन दोष परित्याज्य हैं । उनके लिये आगे के तीन श्लोक हैं । पर अभी तो पहिले प्रश्नका अभिनन्दन करते हैं :—

श्रीशुक उवाच—

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो यतः ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥

मूलार्थः—हे राजन् ! तुमने जो मनुष्यों के श्रोतव्यादि विषयों में दूसरा प्रश्न किया वह श्रेष्ठ है, लोकहित करनेवाला है और आत्मवेत्ताओं को भी सम्मत है ॥ १ ॥

सुबोधिनी ।

वरीयनिति । श्रोतव्यादिषु प्रश्नेषु मध्ये यः प्रथमतः पृष्टः सर्वात्मना किं कर्त्तव्यमिति एष प्रश्नो **वरीयान्** श्रेष्ठः । उत्तमत्वे हेतुमाह । यतः स तु ते तवोपकाराय । अन्ये त्वन्येषाम् । अस्मिन्नर्थे महतां सम्मतिमाह—**आत्मवित्सम्मत इति** आत्मविदामप्ययं प्रश्नः सम्मतः ; अनेनाऽत्र प्रश्नोत्तरे बुद्धेर्भरोदय इति सूचितम् । किञ्च । पुंसां सर्वेषामेव विचारकाणां स्वतन्त्राणामयं प्रश्नः सम्मत इति सम्बधः । तस्मादस्योत्तरं कथयिष्यामीति भावः ॥ १ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

राजन् ! तुमने श्रोतव्यादि सात प्रश्नों में जो मेरे आगे सब से पहला प्रश्न किया कि 'सर्वात्मना किं कर्त्तव्यं' सब तरह से क्या करना चाहिये ? हमें तो यह प्रश्न बहुत ही श्रेष्ठ मालूम होता है । कारण कि श्रोतव्यादि के प्रश्न तो अन्योपकारक थे, किन्तु यह प्रश्न तुम्हारे हित के लिये है और लोककल्याणार्थ भी है । कदाचित् यह सन्देह हो कि मैं और सामान्यलोग तो कोई निश्चित बुद्धि के नहीं है इसलिये हमारा हित ही क्या?इसके लिये कहते हैं कि 'आत्मवित्सम्मतः । ' यह प्रश्न आत्मवेत्ताओं को भी सम्मत है । बुद्धिका पूर्ण उपयोग कर लेने के बाद आत्माको पहिचान कर जो स्वतन्त्र हो चुके हैं उन सब पुरुषों को भी यह तुम्हारा प्रश्न माननीय है । इस लिए इसका उत्तर अवश्य दूंगा ॥ १ ॥

इदानीं फलप्रेप्सुमधिकारिणं निर्द्धारयितुं सर्वेषामेकं कर्त्तव्यं नाऽस्तीत्याह—

फल की इच्छा रख कर ही प्रत्येक अधिकारी किसी कर्त्तव्य में प्रवृत्त होता है किन्तु किस फल की चाहना रखने वाला अधिकारी यहां सम्मत है ? यह निर्धार करने के लिये पहले यह दिखाते हैं कि प्रयोजनाऽनैक्य (मतलबों के पृथक् पृथक्) होने से सबका एकही कर्त्तव्य नहीं है ।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥

मूलार्थः—हे राजेन्द्र ! अपनपे के तत्त्व को न जानने वाले मनुष्यों को तथा अपने घरमें गृहसम्बन्धी कार्यों में ही फँसे हुए मनुष्यों को, सुनने लायक विषय हजारों ही हैं । अत एव उस विषय का प्रश्न करना तो व्यर्थ ही है ॥ २ ॥

सुबोधिनी ।

श्रोतव्यादीनीति । अग्रिमप्रश्नानामनभिनन्दनाद्गौणता सूचितैव । तथापि यदि राज्ञस्तत्राऽऽकाङ्क्षा दृढा भवेत्तदा प्रथमोत्तरमुच्यमानं न सम्यगवगम्येत । अतोऽधिकारनिरूपणप्रस्तावे श्रोतव्यादीन्यपि निराकरोति । राजेन्द्रेति सम्बोधनात्—बहुविधाः पुरुषास्त्वयैव दृष्टा बहूनि च शास्त्राणि, तत्र तव तेषां वा न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध इति तदनुभवस्य सम्मतिः प्रदर्शिता । प्रश्ने नृभिरिति वचनात्तज्ज्ञापनायोत्तरेऽप्याह । तर्हि तानि कुतो न वक्तव्यानि ? तत्राऽऽह—**सन्ति सहस्रश इति** मत्कथनात्पूर्वमेव मत्कथनमनपेक्ष्य सहस्रशः सन्ति । सामान्येषु स्वामिप्रेतानामप्रवेशार्थमाह—**अपश्यतामात्मतत्त्वमिति** । आत्मनस्तत्त्वमनारोपितं रूपम् । तच्छास्त्राभावादपश्यताम् । लोकव्यवहारेणाऽऽत्मा आरोपित एव दृश्यते देहादिरूपः संवलितो वा । ननु कथमुपाये विद्यमाने ते आत्मतत्त्वं न जानन्ति ? तत्राऽऽह **गृहेषु गृहमेधिनामिति** । तैर्विविक्तात्मस्वरूपं ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यम् । ते हि गृहमेधिनः गृह एव पर्यवसितमतयः । तेषां गृहोपयोगि यद्भवेत्तदेव ज्ञातव्यम् । विविक्तात्मा तु गृहस्य बाधकः । अतो न ज्ञातव्यः । **गृहेष्विति** निमित्तसप्तमी तेषां गृहेषु बुद्धिरस्ति गृहैकनिष्ठा भविष्याम इति । अतो गृहाः प्राप्तव्याः । तस्माद्ययैव बुद्ध्या गृहसिद्धिस्तामेव बुद्धिं सम्पादयन्ति । सा च लोकसिद्धग्रन्थैरेव पुष्टा नाऽस्मद्वाक्यमपेक्षते । अत स्तद्विषयकस्तव प्रश्नो न साधुः । अनेन क्रियमाणविषयको यः प्रश्न स न स्तुतो न वा निन्दित इति तदुत्तरमग्रे वक्ष्यतीति सम्भाव्यते ॥ २ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

श्रोतव्यादि के प्रश्नों का श्रीशुक ने अभिनन्दन ही नहीं किया । इसी से उन प्रश्नों की गौणता स्वतः सिद्ध है तथाऽपि यदि राजा के हृदय में उनके भी उत्तर सुनने की आकाङ्क्षा दृढ बैठ गई हो तो मुख्य प्रश्न का उत्तर भी दिया हुआ अच्छी तरह इसके हृदय में जमैगा नहीं इसलिये उनका भी कुछ कुछ निराकरण करते चलो, यों समझकर सम्बोधन देते हैं । हे राजेन्द्र ! आपके आगे हजारों ही तो पुरुष आ चुके हैं और हजारों ही शास्त्र, उनसे उन लोगों का अथवा तुह्मारा कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न हुआ और न हो सकता है । इस बाबत का तुमको भी अनुभव हो ही चुका है । यह सम्बोधन का तात्पर्य है ।

जिन लोगों की आत्मा के तरफ तो दृष्टि है नहीं, और घरों में ही जिनकी बुद्धि फँस रही है उन लोगों के लिये घर में रह कर श्रोतव्यादि उपाय हज़ारों (अनन्त) हैं। राजाके प्रश्न में 'नृ' शब्द आया था, इस लिए उत्तर देते समय भी स्मरण दिलाने के लिए 'नृणां' शब्द कहा है। 'सन्ति' कहने की यह ध्वनि है कि उन विषयों पर कुछ कहने की मुझे आवश्यकता नहीं है। वे तो पहिले से ही प्रश्न और उत्तर दोनो, हजारों की संख्यामें मौजूद ही हैं।

आत्मा के (जीवके) अनारोपित रूप को आत्मतत्त्व कहते हैं। गहने वगैरह सोने के आरोपित रूप हैं। लोक व्यवहार में 'मैं' रूप से आत्मा आता है पर यह उसका आरोपित रूप ही है। अन्तर्दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो भी 'मैं' देहादि से घिरा हुआ ही आत्मा (अपनपा) प्रतीत होता है। आत्मा के अनारोपित रूप को समझा दे ऐसा शास्त्र गृह में ही फसे-लोगों ने देखा ही नहीं फिर वे आत्मतत्त्व को कहां से देख सकें।

यहाँ यह विचार हो सकता है कि जब आत्मतत्त्व जानने के उपाय भी विद्यमान हैं तब ये लोग भी आत्मतत्त्व को पहिचान सकते हैं फिर क्यों नहीं जानते। इस पर कहते हैं कि "गृहेषु गृहमेधिनाम्" उनको अछूते आत्मा के स्वरूप को समझ कर करना ही क्या है? वास्तव में वे लोग तो गृहमेधि हैं। उनकी बुद्धि चारों तरफ से घरमें ही लगी हुई है। घर के उपयोगी रहस्य ही उनके जानने लायक हैं। आत्मतत्त्व की समझ तो उनके घरको ही मटिया मेट कर देता है। वे लोग तो घर के लिये ही अपनी बुद्धि को चारों तरफ से समेट कर तयार कर रहे हैं, उन्हें आत्मा जानना ही नहीं है। गृहसंबन्धिनी बुद्धियां हमारे वचनो की अपेक्षा नहीं रखतीं। उनकी आकांक्षा पूरी करने के लिये हजारों ही लोकसिद्ध ग्रन्थ मौजूद हैं। इसलिये ही जो तुमने भी "यच्छ्रोतव्यं" इत्यादि से प्रश्न किया वह ठीक नहीं किया। अब जो "मरते वक्त क्या करना चाहिये?" यह तुम्हारा प्रश्न है वह भी ठीक ही है। न अच्छा ही है न बुरा ही। इस लिये इसका उत्तर हम समय पर देंगे ॥ २ ॥

ननु केवलं गृहार्थे कथं तेषां बुद्धिः ? सद्बुद्धिसाधनानां विद्यमानत्वात्। तत्राऽऽह—

हो सकता है कि संसारमें आकर मनुष्य घर में फँस जाय, पर जब दुनिया में बुद्धिको सुधारने के साधन भी मिल रहे हैं तब उनकी बुद्धि केवल घर के लिये ही क्यों बनी हुई है? इस पर कहते हैं कि—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चाऽर्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥ ३ ॥

मूलार्थः—हे राजन्! रात्रिसंबन्धी आयुष्य निद्रा में, किंवा स्त्रीसंगसंबन्धी कार्यों में बीत जाती है। और दिन संबन्धी आयु धन कमाने की चेष्टाओं में किं वा कुटुम्बभरण की चेष्टाओं में चली जाती है ॥ ३ ॥

सुबोधिनी।

निद्रया ह्रियते नक्तमिति । सत्सङ्गसाधनीभूतः समय एव तेषां नास्ति । तत्समयस्याऽन्यैरेवाऽपहारात् । तदाह । निद्रा चेष्टा चाऽद्वैश आयुर्हृतवत्यौ । तत्र निद्रया नक्तं वयो ह्रियते । रात्रिसम्बन्ध्यायुरज्ञानेन गच्छति । दिवा च दिनसम्बन्ध्यायुरर्थेहया गच्छति । अज्ञानादन्यथाज्ञानाच्च सर्वमायुर्गच्छतीत्युक्तं भवति । ननु न सर्वा रात्रिर्निद्रया गच्छति ? तत्राऽऽह— **व्यवायेन वा वेति** । चकारात्तत्साधनेन । वेति प्रकारद्वयं परित्यज्य नाऽन्यः पक्षस्तेषु सम्भावितः । वयः शब्देन पुरुषार्थसाधनीभूतमायुस्तारुण्यमेव । तच्चेद्गतं जरठः किं नु साधयेत् । बालो वा । **अर्थेहया** । गृहस्य मूलं धनम् । चकारान्निद्रया । अर्थार्थं प्रयत्नेन, सिद्धेऽर्थे कुटुम्बभरणेन वा ॥ ३ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका

बुद्धि को आत्मा के तरफ ले जाने के लिये सब से पहले समय रूप साधन की अपेक्षा है, क्यों कि सत्संग से बुद्धि सुधरती है और सत्सङ्ग के लिये जीवन समय चाहिये । किन्तु उन का अपना जीवन समय ही नहीं रहने पाता । यहां आते ही दूसरे ही लोग उनके जीवन-समय को लूटते रहते हैं । निद्रा और चेष्टा (कुछ करना) इन दो चोरों ने आधी आधी मनुष्य की आयुष्य लूट ली है । देखिये, रात्रिसंबन्धी जीवन—समय, निद्रामें चला जाता है। कदाचित् कोई कहे कि सारी रात कोई भी नहीं सोता, तो उसके लिये कहते है कि '**व्यवायेन च वा**' जो कुछ रात्रि सौने से बच रहती है वह स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसंग के साधनों को एकत्र करने में चली जाती है । यों रात्रि का हिसाब पूरा हो जाता है । अब बाकी रहा दिन संबंधी जीवन—समय, सो धनार्थ कुछ करने में पूरा हो जाता है । कदाचित् किसी के पास पूर्वोपार्जित धन संग्रह हो तो उसको उस धनके उपयोग में लाने, कुटुम्ब भरणादि में वह समय चला जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञान और अन्यथा ज्ञान में ही सारा आयुष्य जाता रहता है । समय को जो 'वयः' शब्द से कहा है उसका मतलब है। अर्थात् मुख्य पुरुषार्थ को साधने के लिये मनुष्य के पास केवल तारुण्य है । बालक तो बुद्धि के न होने से, और वृद्ध अशक्त होने से कुछ कर ही नहीं सकता । केवल जवान अपना मुख्य पुरुषार्थ सिद्ध कर सकता है सो उसका वह मध्यायु पूर्वोक्त रीतिसे निरर्थक ही चला जाता है । अर्थात् गृह मूल संपादन में आयु नष्ट होती है ॥ ३ ॥

ननु वैराग्यसाधनानां जायमानत्वात्कथं तेषां गृहे विचिकित्सा न जायते ? तत्राऽऽह—

यहाँ एक यह विचार होता है कि गृहमेधी को भी कभी कभी दुनियां के आघात ऐसे लगते हैं जिनके द्वारा बुद्धि में वैराग्य आ जाता है । तो क्या ऐसी अवस्था में भी उनके हृदय में कभी घर के लिये परित्यागादि का विचार न होता होगा ! इसके लिये कहते हैं किः—

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४ ॥

मूलार्थः—देह, पुत्र पुत्री, स्त्री आदि यद्यपि आत्मा के सहायक हैं तथापि प्रायः अपनपे के विरोधी होने से नहीं जैसे हो जाते हैं । किन्तु उनकी आसक्ति में यह जीव निरन्तर असावधान रहता अपना नाश देखता हुआ भी नहीं देखता ॥ ४

सुबोधिनी ।

देहापत्येति । त्रयो गृहे मुख्याः । देहः पुत्रो भार्या च । तन्मूलका अन्ये । ते च स्वभावतो गुणतश्च दुष्टाः । यत आत्मनाशकाः । ये हि यस्य परिकरा भवन्ति ते तं पोषयन्ति । एत आत्मसैन्यान्यात्मानमेव शत्रुभिर्घातयन्ति । अतोऽसन्तः ननु किमतो यद्येवम् ? एवमेतदित्याह । ते ह्यात्मघातदोषेण धनेन पोषिता निधनं प्राप्नुवन्ति । तदा दुष्टानां नाशादात्मनिष्ठो भवेत् । तदन्तःस्थदोषान्न जायत इत्याह—**प्रमत्त इति** । यथा अत्यन्तं मदिरामत्तो गतमपि स्पृशन्नपि वस्त्रं देहं वस्त्रगमनं नाऽनुसन्धत्ते तथाऽयमपि मृतानपि तान् पश्यन् जीवत इव तदर्थं प्रयतते । तस्माद्बाह्यान्तरदोषव्याप्तत्वादायुषो वृथा क्षयाद्गृह एव पर्यवसितबुद्धित्वात्तेषां श्रोतव्यादि न प्रष्टव्यमित्यर्थः । **बुद्धिश्चाऽऽयुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः । यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नाऽस्त्यधिकारिता** ॥ ४॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

देह पुत्र पुत्री, और स्त्री ये तीन मुख्य, और बाकी आदि शब्द से गृह धन प्रभृति, ये सब आत्मा की सेना हैं, रक्षक हैं। उचित तो यह है कि जो जिसका परिवार हो वह उसका पोषण करे। पर वे देहादि आत्मा के परिकर होते हुए भी गुणदुष्ट और स्वभावदुष्ट हो जाने से आत्मनाशक होगये हैं । दुष्टस्वभाव हैं, इस लिये आत्माकी सेना हो कर भी काम क्रोधादि शत्रुओं के हाथसे आत्मा का ही नाश करा देते हैं । आत्मा को कभी भी दृष्टि के आगे न आने देना यही देहापत्यादि के पास धन है। उस धनसे वे पोषित होते रहते हैं, पर कहां तक ? ये लोग उस आत्मघात दोष से आप भी नष्ट हो जाते हैं । ठीक है, दुष्टलोगों के नाश होजाने से मनुष्य को आत्मनिष्ठ होने का मौका है। इस के लिये कहते हैं कि नहीं, फिरभी यह आत्मनिष्ठ नहीं होने पाता । क्यों कि 'प्रमत्तः' । बे खबरी दोष भीतर तक पहुँच गया है। जैसे एकदम मदिरा की मस्तीमें बेसुध हुआ पुरुष वस्त्र और देहों का स्पर्श करता रहता है तौ भी नंगा होता रहता है, उसे कुछ खबर नहीं रहती। इसी तरह यह अज्ञानी मनुष्य भी देखता है कि मेरा नाश करके ये लोग भी स्वयं इसी तरह नष्ट होते रहेंगे तथापि प्रमादी यह, उन्हें अजर अमर समझ कर उनके लिये प्रयत्न करता रहता है। इस लिये जो लोग बाहर भीतर दोषों से व्याप्त हो चुके हैं और घर में ही फँसे रहने से आयुका व्यर्थ क्षय कर रहे हैं उनके लिये श्रोतव्यादि विषयों का प्रश्न करना ही व्यर्थ है। कारण कि मुख्य पुरुषार्थ में उनका अधिकार नहीं है। कहा है कि बुद्धि (समझ) जीवनसमय और दोषों का अभाव, ये तीन आत्मोद्धार में मुख्य कारण हैं। जिसके पास में ये तीन न हों उसका मोक्ष विषय में अधिकार ही नहीं है ॥ ४ ॥

एवं प्रश्नमभिनन्द्य साधारण्यं परिहृत्याभयमिच्छतामुपायमाह—

इस तरह राजाके प्रश्नका अभिनन्दन करके यह भी दिखा दिया कि यह तुम्हारा प्रश्न

साधारण नहीं है। अब मुख्य प्रश्नका उत्तर देते हैं। राजा का मुख्य प्रश्न है कि मनुष्य का सर्वात्मना कर्त्तव्य क्या है? इसका खुलासा भी कर दिया कि जिसके किये बिना सब पुरुषार्थ व्यर्थ हो जांय वह अवश्य कर्त्तव्य है। आत्माको जानकर मृत्युभय दूर किये बिना किसी पुरुषार्थकी सिद्धि होनी असम्भव है। इस लिए मृत्युभय दूरीकरण ही अवश्य कर्त्तव्य है। अब इसी की चर्चा छेडते हैं कि—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥ ५ ॥

मूलार्थः—इस लिए हे भारत! जिसको निर्भय होने की इच्छा है उसको सबका आत्मा, सर्वदुःखहर्ता, सर्वसमर्थ, ऐश्वर्यादि अनन्तकल्याणगुणयुक्त भगवान् का श्रवण कीर्तन और स्मरण सर्वदा करते रहना चाहिये ॥ ५ ॥

सुबोधिनी।

तस्मादिति। यस्मादाद्य एव पक्षः समीचीनः यस्मादन्यविषकश्चाऽसमीचीनस्तस्माद्येषां संसाराद्भयमस्ति तद्भयनिवृत्त्यर्थं च यतन्ते तेषामभयमिच्छतां भगवाञ्छ्रोतव्यः। यद्यप्यत्र युक्तिर्वक्तव्या तथापि बहिर्मुखस्य बुद्धिर्युक्तिमपि न गृह्णातीति स्वभावतोऽधिकारी वक्तव्यः। तदाह। **भारतेति**। विशिष्टाधिकारद्योतकमुक्तविश्वासाय। "**दौष्यन्तिरत्यगान्मायामि**" ति भरतस्य मायामोहाभावात्तत्सम्पुरस्सरं तद्वंशोत्पन्नानामपि मायामोहाभावादुक्तविश्वासः। ननु वैदिकविधिबोधितानामग्निहोत्रादीनामात्मजिज्ञासाया वा कथनं परित्यज्य कथं भगवच्छ्रवणं विधीयते? अवैदिकत्वात्। तत्राऽऽह—**सर्वात्मेति**। प्रमाणबलात्प्रमेयबलं महदित्यग्रे वक्ष्यते। प्रमेये च युक्तिर्बलिष्ठा। तत्रैषा युक्तिः। अभयप्रेप्सवस्त्रैवर्णिका एव भवन्तीति नाऽस्ति नियमः। अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानामभयेच्छासम्भवात्। अतस्तेषामुपायो वेदे नोक्त इति तदर्थं वक्तव्ये साधने तेनैव साधनेन त्रैवर्णिकानामपि पुरुषार्थसिद्धावावश्यकत्वाल्लाघवाच्च सर्वोपयोग्येक एवोपायो वक्तव्यः। स च सर्वात्मत्वाद्भगवतस्तद्विषय एव कश्चिद्वक्तव्यः। न हि स्वस्याऽऽत्मा कस्यचिन्न श्रोतव्यः। "**आत्मा वा अरे श्रोतव्यः**" "**आत्मलाभान्न परं विद्यते**" "**तरति शोकमात्मविद्**" ति श्रुतेः। तत्र स्वस्वात्मश्रवणे बोध्यमाने बोधकस्य वाक्यापर्यवसानमेव स्यात्। आत्मसु प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च। तस्मात्सर्वेषामेको य आत्मा भवति स एव श्रोतव्यः। अतः श्रुतावप्यात्मपदं सर्वात्मपरम्। न च जातिवाचकत्वमात्मपदस्य। तथा सति व्यक्तिरूपस्य स्वस्य गौणत्वेनाऽश्रौतत्वात्क्रियावज्ज्ञानेऽनुपपत्त्यभावाच्च नाऽऽत्मनः कार्यं सिद्ध्येत्। संघातेऽप्यात्मज्ञानस्य विद्यमानत्वाच्छ्रुतौ प्रकारविशेषस्याऽनुक्तत्वाज्ज्ञानार्थं प्रयासो व्यर्थः स्यात्। श्रुतिश्चोपचरिता भवेत्। अतः सर्वात्मैव श्रोतव्यः। तस्य शारीरस्य च भेदाभावान्न स्वस्य गौणता। किञ्च। "**फलमत उपपत्तेरि**" ति न्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलम्। किन्तु श्रवणादिभिर्ज्ञाते ब्रह्मणि तत्फलं प्रयच्छति। तच्चेन्निर्द्धर्मकं शारीररूपं वा स्यात् फलदाने असमर्थमेव स्यात्। अतः फलदानसमर्थरूप एवाऽऽत्मा श्रोतव्य इत्याह—**भगवानिति**। षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न तु भ्रान्तशास्त्रैः प्रतिपन्नः। वेदार्थोऽप्ययमेवेत्यवादिष्म। किञ्च। फलं दुःखाभावः सुखं च। तत्र प्रथमं दुःखाभावो मृग्यः। बुद्धेस्तत्रैव प्रथमं प्रवृत्तेः। तत्र श्रवणस्य तत्साध्यज्ञानस्य वैकफलत्वे सर्वफलत्वे वा आहारपृथक्त्वेन सर्वफलत्वनिर्द्धारात्प्रथमं जाते साक्षात्कारे दुःखनिवृत्तौ परमानन्दो न स्यात्। परमानन्दे वा स्वर्गादिसुखवत् दुःखनिवृत्तिर्न स्यात्। सन्नियोगशिष्टत्वेऽपि फलदातृत्वाद्भगवतो द्वयं न प्रयच्छेत्। अन्यथा आहारपृथक्त्वन्यायो भज्येत। अतः श्रवण एव तादृग्विषयो वक्तव्यः। यस्तूभयरूपो भवति। तदाह—**हरिरीश्वर इति**। हरित्वेन सर्वदुःखहर्तृत्वेनेश्वरत्वेन सर्वफलदातृत्वेन च श्रोतव्यः। "**तं यथा यथोपासत**" इति श्रुतेः। अतो धर्मचतुष्टययुक्तत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन

तादृशः श्रोतव्य इति विषयं व्यावर्त्तकधर्मैः परिच्छिद्य तत्र कर्त्तव्यमाह श्रोतव्यादित्रयम् । नन्वस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वाच्छ्रवणादिकं न धर्मरूपम् । उत्तमवक्तृकथनाच्च । अतो नवविधा भक्तिः कर्त्तव्यत्वेन वक्तव्या । तत्कथं त्रयमेवोच्यत इति चेत् ? सत्यम् । नवविधभक्तेर्वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वादन्येषां त्रयमेवोक्तम् । त्रिभिः स्नेहे जाते अन्येषां कर्त्तव्यता अनुक्तसिद्धैव । ननु भगवाञ्छ्रोतव्य इति कोऽर्थः । तद्वाचकाः शब्दाः श्रोत्रेण ग्राह्यास्तेषामर्थो वा ज्ञातव्यः । अभिप्रायो वा । सर्वेषां वा केषांचिदेव वा । आद्ये विधिर्व्यर्थः । प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन ज्ञानस्य श्रोत्रेन्द्रियवतो यतः कुतश्चिच्छब्द उच्चारिते ज्ञानं भविष्यत्येव । गृहीतसंकेतस्य तु पुनरर्थज्ञानमपि भविष्यति । न च तत्सम्पादने यत्नः कर्तव्य इति । दैवगत्या यत्नं विनाऽपि सर्वेषां तत्सम्भवात् । अथ सर्वदा ? अशक्त्याऽसम्भवात् । जीवनानुपपत्तिश्च । किञ्च । भगवद्वाचकानां सर्वेषां पदवाक्यानामेकेनोपस्थापयितुमशक्यत्वाद्यत्किञ्चित्पदवाक्यमात्रस्य सर्वजनीनत्वादवक्तव्यत्वम् । अथ शक्तितात्पर्यनिर्धारः पदवाक्ययोः श्रवणम् । तथैव कीर्तनं स्मरणं चेति चेन्न । सर्वेषां पदवाक्यानामनुपस्थितौ तन्निर्धारस्याऽशक्यत्वात् । यत्किञ्चित्पदवाक्यमात्रस्य तु शक्तितात्पर्यनिर्धारः सर्वजनीन इति नोपदेशो युक्त इति ? मैवम् । **श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः । उक्तैव वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः । शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः सामान्येन पदादिगः । क्रियते स्कन्ध एवाऽत्र तेन नाऽत्रोक्तदूषणम् ।** भगवान् दशविधलीला युक्तः श्रोतव्यः । अन्यथा विषयवाचकपदचतुष्टयेनैव श्रवणसिद्धेर्विधेर्वैयर्थ्यं स्यात् । तृतीयादिदशस्कन्धकृतिवैयर्थ्यं च । तावता शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः सामान्यन्यायेन व्याकरणवन्मीमांसावच्चाऽत्रैव क्रियते । तस्मान्न कोऽपि दोषः । एते हि चत्वारो गुणा अधिकारिफलनिरूपकत्वेनोक्ताः । न तु श्रोतव्यत्वेन । अवच्छेदकत्वेनैव तदुपयोगात् । गुणानामानन्त्येऽपि यथा दशलीलासु सर्वप्रवेशस्तथोत्तरत्र वक्ष्यते । अनुप्रवेशेऽपि यथाऽऽनन्त्यं तथाऽपि वक्ष्यते । अथाऽत्र त्रयं न विधातव्यम् । एकेनैव प्रेमद्वारा अभयसिद्धेः । न च मिलितानां त्रयाणां साधकत्वम् । परीक्षिति तदभावेनाऽभयाभावप्रसङ्गात् । श्रवणस्याऽऽवश्यकत्वाच्च न विकल्पेनाऽनेकविधानमिति वाच्यम् । अत्रोच्यते । त्रयाणामन्योन्यनिर्वाहकत्वेन विधानम् । तथाहि । कीर्त्तनाविधाने श्रवणमेव न निर्वहेत् । न चाऽध्ययनविधिवदेकविधानेनान्यप्राप्तिरिति वाच्यम् । अध्यापनस्य संसारिकर्त्तव्यत्वेन विधिं विनाऽपि वृत्तित्वेन प्राप्तत्वात् । न चाऽत्र तथा । श्रवणेन कृतार्थस्य कीर्त्तने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तर्हि कीर्तनमेव विधीयताम् । श्रवणं त्वर्थादेव भविष्यतीति । न । परीक्षिति तदभावात् । अभये वैलक्षण्याभावाच्च । तस्माच्छुकादीनामतिनिरपेक्षाणामपि कीर्तने प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्त्तनविधानम् । तदैव श्रवणसिद्धिः । फलं तु प्रत्येकमेव । अभयं तु भगवत्प्रवेशरूपम् । तदैव सर्वभयनिवृत्तेः । तर्हि स्मरणं न विधातव्यम् । न च श्रवणानन्तरमस्मरणे विस्मरणात्कीर्तनानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अन्यलभ्यत्वेन विध्यनुपपत्तेरिति चेन्न । सकृत्कृतकीर्त्तनस्याऽपि विस्मरणसम्भवान्न कीर्त्तनशेषत्वेन स्मरणमायाति । विहिते तु स्मरणे श्रवणकीर्तने सदा भवतः । दोषान्तराप्रवेशश्च । किञ्च । त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृत्तानामेवाऽभयसाधकत्वम् । उत्तरावधिर्देहपात एव । पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम् । "**आवृत्तिरसकृदुपदेशादि**" ति न्यायेन स्मरणान्तरव्यावृत्त्यर्थम् । यद्यपि स्नेहे जाते आवृत्तिर्न विधातव्या । स्वत एव तत्सम्भवात् । अथाऽपि भरतवत्कदाचिदन्यासक्तिर्भवेत् । न च तथा सत्यधिकाराभावादेव विधिर्व्यर्थ इति वाच्यम् । तदभावार्थमेव विधानात् । तस्माद्यथासम्भवं देहपातपर्यन्तं त्रयाणामावृत्तिः कर्त्तव्या । ननु मनननिदिध्यासने कुतो न विहिते । ज्ञानं च साध्यत्वेन कुतो नोक्तम् । "**ज्ञानादेव तु कैवल्यमि**" ति श्रुतिविरोधश्च । न च ज्ञानस्याऽर्थात्सिद्धिः । तथा सति ज्ञानस्य व्यापारत्वं स्यात् । अत्र स्नेहस्य तथात्वेन विवक्षितत्वाच्चेति चेन्न । मनननिदिध्यासनयोरङ्गत्वेन श्रवणमध्यपातात् । तदत्रैवोत्तरत्र वक्ष्यते । ज्ञानं तु शाब्दं सिद्धमेव । प्रेम्णा क्रियमाणैस्त्रिभिर्भगवत्साक्षात्कारोऽपि सम्भवति । तथापि श्रवणादीनामेव कारणत्वम् । अन्तिमसाक्षात्कारस्य तु फलनान्तरीयकत्वात्फलमध्यपातः । न चाऽऽध्यात्मिकश्रवणवच्छ्रवणाद्याहितसंस्कारसध्रीचीनेन मनसा शारीरात्मसाक्षात्कारवद्भगवत्साक्षात्कारो वक्तुं शक्यः । "**नाऽहं वेदैरि**" ति वाक्यात् । न च शारीरसाक्षात्कार एव फलम् । संघातादुद्गतस्य कैवल्यं प्राप्तस्य भगवच्छ्रवणे मुख्याधिकारात् । "**एतावदरे खल्वमृतत्वमि**" ति ब्रह्मप्रकरणस्थत्वाद्ब्रह्मात्मविषयकमेव । भगवतश्च स्वतन्त्रत्वान्नाऽन्येन प्रकारेणाऽऽविर्भावः सम्भवति । यत्तु वाक्यात्स्वप्रवद्ब्रह्मात्मभावस्फूर्त्तिस्तेन वा सर्वाविद्यानिवृत्तिः स्वचरितार्थता वोच्यते । तज्ज्ञानदुर्बलानां मनोरथमात्रमेव । शुकसनकादीनामद्याऽपि परिभ्रमणात् । तस्मात्सायुज्य एव सर्वभयनिवृत्तिः । "**ब्रह्मैव सन्ब्रह्माऽप्येती**" ति श्रुतिश्च

तमेवाऽर्थं वक्ति । न चौपनिषदां वैयर्थ्यम् । अस्यैवाऽर्थस्याऽधिकारिभेदेन प्रकारभेदेन विधानात् । फलं त्वेकमेव । " **तें प्राप्नुवन्ति मामेवे** " ति वाक्यात् । " **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य** " इति च । " **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति** " " **तद्विष्णोः परमं पदमि** " ति च " **तदेव ब्रह्म परमं कवीनामि** " ति । तस्माद्वैदिकप्रकारेण भागवतप्रकारेण वा भगवति प्रवेशस्त्रैवर्णिकानाम् । अन्येषां तु भागवतप्रकारेणैव । न च व्यवस्थितविकल्पः । " **किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या** " इति वाक्यात् । **क्लेशोऽधिकतरस्तेषामि** " ति च । अत एव श्रुतिविप्रतिषेधोऽपि नास्ति । शाण्डिल्यस्य तथा वचनं पूर्वं चित्तशुद्धिस्तथा न जातेति नोपनिषद्भिः फलोदयः । चित्तशोधकानां वैदिकमार्गे क्लेशसाध्यत्वात् । अतः स्वपक्षस्थापनामात्रपरत्वादितरपक्षनिन्दावचनानां, न तावता श्रुतिविरोधः सम्भवति । तस्मात्सूत्रविचारानुसारिवैदिकमार्गेण भगवन्मार्गेण वा यथाधिकारं सर्वेषां परमपुरुषार्थप्राप्तिः सर्वमनवद्यम् । विधिविशेषविचारस्तु न कर्तव्यः । तव्यप्रत्ययस्य विधावविधानात् । लिङ्लोट्पञ्चमलकाराणामेव विधौ विधानात् । लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्च भगवतो नाऽत्र विधिः सम्भवति । भक्तिशास्त्रत्वाच्च । फलसाधनता तु तादर्थ्येन विधानात्समभिव्याहारादेव लभ्यते । वाक्यार्थस्याऽपूर्वत्वाद्भावनापक्षश्च पूर्वमीमांसाभाष्य एव निराकृतः । अयं च तव्यप्रत्ययआवश्यके विहितः — " **कृत्याश्चे** " ति सूत्रेण । प्रश्नानुगुणश्चाऽयम् । तस्माद्भगवत्प्रवेशार्थं यावज्जीवं यथासंभवं त्रयाणामावृत्तिः कर्तव्येति सिद्धम् । श्रोतव्यः कीर्तितव्यः श्रोतव्यश्चः स्मर्तव्यः पूर्वोक्तश्च । एवं प्रतिपादनार्थं चकारद्वयम् । इच्छतेति पदाच्छ्रवणाद्यकरणे अभयमेव न भविष्यति न तु तदकरणकृतः प्रत्यवायोपीति सूचितम् ॥ ५ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

इसके पूर्व यह बात निश्चय हो चुकी है कि सर्वात्मनाकर्त्तव्य पक्ष ही उत्तर देने में मुख्य है उत्तम है । और श्रोतव्यादि अन्यविषयक प्रश्न समीचीन नहीं है । इस लिये उसके उत्तर मे अब कहना पडता है कि जिन्हें संसारसे भय हुआ है और जो उस भय की निवृत्ति करना चाहते भी हैं उन्होने भगवान् का श्रवण करना चाहिये यही सर्वात्मना कर्त्तव्य है । यद्यपि इसको समझाने के लिये कोई युक्ति देनी चाहिये थी किन्तु जिसने संसारके तरफ ही मुखकर रक्खा है उसकी बुद्धि उसी के विरोध की युक्तिका ग्रहण नहीं करैगी इस आशय से युक्ति न देकर केवल स्वाभाविक अधिकारी को निर्देश करदेना उचित है । यों समझकर कहा है कि हे भारत ! भरतवंशोत्पन्न !

संसार से जो भय प्राप्तहुआ है वह भगवान् को सुनने से जाता रहैगा, इस बात को मानने के लिये उत्तमाधिकारी की अपेक्षा है, और हे भरतवंशोत्पन्न तुम परीक्षित हो इसलिये तुम इस के अधिकारी हो । ' भरतने माया को तरी ' इत्यादि वचनों से स्पष्ट होता है कि उसका संसारभय दूर हुआ था अत एव उसके वंश में पैदा होने वालों का भी संसार-का भय इस प्रकार से दूर हो सकता है, यह सबको विश्वास होने के लिये यह संबोधन दिया गया है । अर्थात् इस मार्ग में अच्छे अधिकारियों को सिद्धि मिल सकती है । भगवान् के श्रवणमार्ग से सिद्धि मिलना असंभव नहीं है ।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि वेद में संसार भयनिवृत्ति के लिये या तो अग्निहोत्रादियज्ञ कहे हैं । या आत्मविचार उपाय कहा है । आप उन दोनों को छोड कर यह अवैदिक बात क्या छेडते हो कि संसारभय निवृत्ति के लिये भगवान् का श्रवण करना चाहिये । इसके उत्तर में

कहते हैं कि ' सर्वात्मा '। वैदिक उपायों से भयनिवृत्ति होगी, यह प्रमाण (वेद) का बल है। और भगवान् की लीलाओं के श्रवणसे ही भय दूर होगा यह प्रमेय (भगवान्) का बल है। प्रमेय में युक्ति ही विशेष बलिष्ठ प्रमाण मानी जाती है । यहां भी यदि इस विषय में कोई युक्ति पूछे तो कहना पडेगा कि ' भयनिवृत्ति ' यही यहां युक्ति है। हमारा भय दूर होजाय यह बुद्धि केवल त्रैवर्णिकों को ही होसकती है, शूद्रादिक में यह बुद्धि असंभव है, यह कोई नहीं कह सकता । यदि पूर्वजन्म में शूद्रादि ने भी पुण्यपुंज किये हों तो उन्हें भी यह बुद्धि मिल सकती है । किन्तु उनकी संसार भयनिवृत्ति का कोई उपाय वेद में कहा नहीं है । तो क्या ये भवसे भीत ही इस जगत् से चले जांय? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उनकी भयनिवृत्ति-का भी साधन अवश्य बताना ही चाहिये । जब यह युक्तिसे ही सिद्ध है तो फिर सर्वोप-योगी कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ निकालना चाहिये जो त्रैवर्णिक और अत्रैवर्णिक (शूद्रादि) दोनों के काम आ सके । इसमें लाघव है । वह सर्वोपयोगी उपाय भगवल्लीलाश्रवण ही है । क्यों कि भगवान् सर्वात्मा (सब की आत्मा) हैं । कौन ऐसा है जो अपने आत्मा (अपनपे) की बात न सुनना चाहे । भगवान् सबका आत्मा है, उसको तो सबने सुनना चाहिये । और इस बात को तो वेद भी स्वीकार करता है । (अपने आत्मा का श्रवण करना चाहिये) आत्म-प्राप्ति से परे दूसरा फल नहीं है ' ' जिसने आत्मा को पहिचान लिया है वह भय को तर जाता है । ' इत्यादि अनेक वेदके वाक्य हैं। सर्वात्मा को छोडकर अलग अलग अपने अपने आत्मा का श्रवण करना बनही नहीं सकता । क्यों कि आत्मायें अनन्त हैं, उन सबके सुनाने वाले कहां मिलेंगे ? और फिर उनका सुनाना और बोद्धाओं का समझना पूरा ही कब होगा? और फिर पृथक् पृथक् आत्मओं में भेद ही क्या है ? देह किंवा अविद्या का सहयोग तो सबमें समान है । खास उनके अन्दर तो प्रकृति की विकृति का भाव हो नहीं सकता। क्यों कि आत्मा शुद्ध चेतन है । फिर पृथक् पृथक् श्रवण का आडम्बर व्यर्थ है । इस लिये जो सब का आत्मा हो उसका श्रवण करना ही सम्भव और सहजहै। इस लिये वैसे भगवान् का श्रवण करना चाहिये । अत एव पूर्वोक्त वेदवाक्यों में भी आत्मपद सर्वात्मा को ही कहने वाला है यह समझलेना चाहिये ।

कदाचित् कोई कहै कि आत्मा का अर्थ सर्वात्मा क्यों लेते हो, आत्मशब्द को ही जाति वाचक मान लो । तो भी ठीक नहीं है । आत्मजाति के मुख्य हो जाने से अपना अपना पृथक् आत्मा व्यक्ति अब गौण हो गया और श्रुति में गौण आत्मा का श्रवण कहा नहीं है । वहाँ तो मुख्यात्मा का ही श्रवण करना कहा है । और यदि जबरदस्ती करोगे तो वैसे श्रवण को अवैदिकता हो जायगी । क्रिया में जैसे प्रकार भेद हैं, अत एव क्रियासामान्यसे कार्य न

चलसकने से पृथक् पृथक् ज्ञान सम्पादन करना पडता है। वैसी यहाँ कुछ अडचन है नहीं। अत एव जातिवाचक मानकर काम करलेने पर आत्माका कार्य(श्रवण)ही असिद्ध रहेगा। दूसरे एक यह अडचल भी भारी आवैगी कि श्रुतिमें आत्माका कोई प्रकार विशेष तो कहा नहींहै, केवल आत्मशब्द कहा है। ऐसी अवस्था में आत्मशब्द देहवाचक भी होने से, कोई आत्मा से देहका ग्रहण करले तो उसे दोष नहीं दे सकते। किंतु देहका ज्ञान तो सबको प्रत्यक्ष है फिर ऐसे आत्मज्ञान के लिये यह इतना परिश्रम बताना और करना व्यर्थ हो जायगा। और श्रुति को भी उपचार से आत्मज्ञान कहने वाली माननी पडेगी। इस लिये मानना पडेगा कि जो भगवान् सब का एकही आत्मा है उसका श्रवण करना उचित है। अब पृथक् पृथक् आत्मा ओं को भी गौणता न हुई। क्यों कि पृथक् पृथक् आत्मा भी सर्वात्मा का ही अंश है इसलिये दोनों एक हैं। अंश और अंशीका अभेद प्रसिद्ध है। इसलिये सर्वात्माका श्रवण कर्त्तव्य है।

उस सर्वात्मा को भगवान् क्यों कहा, अब इसकी उपपत्ति बताते हैं ' फलमत उपपत्तेः ' ' आत्मा से ही फल की प्राप्ति होती है यह ठीक है। ' यह विचारसूत्र कह रहा है कि परमात्मा से ही फलप्राप्ति होती है। तो यहां भी फलदानसमर्थ आत्मा का श्रवण करना उचित है। इस लिये सर्वात्मा को ' भगवान् ' कहा। जिसके पास स्वतंत्र ऐश्वर्यादि छ गुण हों वह भगवान्। सर्वात्मा को कितने ही भ्रान्तशास्त्रवाले निर्धर्मक किंवा शारीर (जीव) मात्र मानते हैं सो नहीं। शारीर किंवा निर्धर्मक आत्मा तो फलदान में समर्थ ही नहीं हैं। जिसके पास सब फल विद्यमान हैं, जो सब को फल देता है वह ' भगवान् ' श्रोतव्य है। षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् सर्वात्मा ही वेद का भी तात्पर्यार्थ है यह पहिले सिद्ध करचुके हैं।

' आत्मा वारे श्रोतव्यः । '

एक बात का विचार करना है कि फलदान समर्थ सर्वात्मा श्रोतव्य है, यह सिद्धान्त रहने पर भी एक अडचल आती है। वो यह कि फल दो प्रकार का है ' दुःखाभाव ' और ' सुखप्राप्ति '। इतने में भी बुद्धि पहले दुःखके अभावको चाहती है। इस लिये पहिला फल दुःख का न होना है। इस दुःखाभाव फ़ल को ' हरिः ' शब्द कह रहा है। ऐसी अवस्थामें भी श्रवण का किंवा श्रवणसाध्य ब्रह्मज्ञान (साक्षात्कार) का फल एक है वा दोनों ? इस निर्णय के समय जहाँ तक सर्वफल का निर्णय न हो ले वहाँ तक, जैसा आहार वैसे रसादि इस न्याय के अनुसार भगवान् हरि का साक्षात्कार होने से दुःख की निवृत्ति तो हो जायगी पर परमानन्दरूप फल न हो सकैगा। यदि कहो कि भगवान परमानन्दरूप हैं इसलिए परमानन्द तो जरूर मिलैगा ही तो कहना पडेगा कि तो फिर स्वर्गसुख की तरह आनन्द मिलने पर भी दुःखनिवृत्ति न हो सकेगी। इस के लिये ' ईश्वर ' शब्द है।

यदि कहो कि ' सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ' इस न्याय

के अनुसार जब दो प्रकार का रहते भी दुःखाभाव पूर्वक सुखप्राप्ति यह एक ही फल है तो, मिलेंगे तो दोनों मिलेंगे और न मिलैं तो दोनों न मिलें। दोनों में से एक रह नहीं सकता। पर यह न्याय यहाँ लग नहीं सकता। यह न्याय शब्द विषयक है और यहाँ क्रिया और क्रियाफल का विषय है। इसलिये यहाँ 'आहारपृथक्त्त्वन्याय' के अनुसार ही निर्णय करना उचित है। दूसरी यह भी बात है कि फल प्राप्ति को यदि स्वतंत्रता होती तब तो 'सन्नियोग०' इत्यादि न्यायानुसार कार्य हो सकता था, पर यहाँ तो फलदाता भगवान् हैं, अत एव दोनों फल नहीं मिल सकते। अन्यथा भगवत्कृतमर्यादाभङ्ग, भगवान् के ही हाथ से प्राप्त हो जाय। पुष्टिमार्ग के अन्यत्र भगवान स्वकृत सेतुओं की रक्षा करते ही हैं। इसलिये श्रवण का विषय ही कुछ ऐसा कहना चाहिये जो दो प्रकार का हो। उस अवस्था में फल भी दो प्रकार का मिलने की मर्यादा रह जायगी। इस आशय को हृदय में रखकर 'सर्वात्मा' के 'हरिः' और 'ईश्वरः' ये दो विशेषण और दिये। इन का अर्थ यह है कि सर्व दुःख-हर्ता-रूप से और सर्व फलदानसमर्थरूप से सर्वात्मा का श्रवण करना चाहिये। इतने ग्रंथसे अब यह सिद्ध हुआ कि संसारभय को दूर करना चाहने वालों को जो सब का आत्मा हो, षड्गुणैश्वर्य युक्त हो, दुःखों को हरने वाला हो, और सब फलोंके देनेमें समर्थ हो, ऐसे पदार्थ का श्रवण करना चाहिये। पूर्वोक्त चारधर्मों से युक्त मात्र नहीं, पर 'गुणोपसंहारन्याय' से जो भगवान् अनन्तगुणनिधान हो उसका श्रवण करना चाहिये। 'तं यथा यथोपासते तत्तदेव भवति' उस भगवान् की जो कोई जिसप्रकार की भक्ति करता है वह भगवान् उसके लिये वैसा ही होजाता है' इत्यादि वेदवाक्य भी इस बात को समर्थन देता है।

इस तरह व्यावर्तकधर्मों (विशेषणों) के द्वारा श्रवण के विषय को स्पष्ट दिखाकर अब उसके लिये 'श्रोतव्य, कीर्तितव्य, और स्मर्तव्य, ये तीन कर्त्तव्य कहते हैं। अर्थात् वह भगवान् सुनने लायक है कीर्तन करने लायक है और स्मरण करने योग्य है 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यः स्मर्तव्यश्च'।

यहाँ एक यह विचार होता है कि इस भगवतशास्त्र का फल भगवान् में भक्ति होना है इस लिये, और श्रीशुकब्रह्म सदृश उत्तमवक्ता ने इनको कहा है इस लिये भी यह श्रवणादिक धर्मरूप तो हो नहीं सकते, तो कहना पड़ेगा कि भक्तिरूप ही हैं। किन्तु भक्ति तो नवविधा है इसलिये यहाँ भी नवविधाभक्ति का ही निरूपण करना था फिर 'श्रवण कीर्तन स्मरण' इन तीन को कहकर ही क्यों रहगये। ठीक है, भक्तिशास्त्र और उत्तम वक्ता होने से नवधा-भक्ति का ही निरूपण करना है पर इन तीन के आगे के 'पादसेवन' आदि साधन, भक्ति (स्नेह) होने के बाद स्वतः प्राप्त कर्त्तव्य हैं इसलिये उनको यहाँ स्पष्ट न भी कहें तो दोष नहीं है। वे तो स्नेहानन्तर स्वतः प्राप्त हैं हीं।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि ' सर्वात्मा भगवान् का श्रवण करना चाहिये इस वाक्य का अर्थ क्या है ? । क्या भगवद्वाचक शब्दों को कानसे सुन लेना यह अर्थ है ? । अथवा उनके अर्थों को जानलेना यह अर्थ है ? । किं वा उनके अभिप्राय को समझलेना अर्थ है ?। और फिर सब के सब उन शब्दों का, किं वा कुछ थोडे बहुत शब्दों का, ? ।

यदि कान से सुनलेना यह श्रवण का अर्थ है तब तो ' श्रोतव्यः ' यह विधि (आज्ञा) ही व्यर्थ है । क्यों कि ज्ञान (समझ) प्रमाण और वस्तु के परतन्त्र होता है, इसलिये जो सही सलामत कान (प्रमाण) वाला पुरुष है, उस को जहाँ कहीं से भी शब्द (वस्तु) सुनाई देगा वह सुनेगा ही और ज्ञान भी होगा ही, इस में शास्त्राज्ञा की क्या जरूरत है । जिसने शब्दार्थ के सम्बन्ध को जानरक्खा है वह सुनेगा तो शब्दवाक्यादि का अर्थ ज्ञान भी हो ही जायगा फिर ये विधि क्यों ? । यदि कहो कि शब्द श्रवण करने का प्रयत्न करना यह श्रवण का अर्थ है तो यह भी व्यर्थ है क्यों कि कभी कभी भगवदिच्छा से अपने आप ही अप्रयत्नोपनत शब्द सुनने को मिलजाते हैं । अब यदि सर्वदा सुनते ही रहो यह श्रवण का अर्थ है, कहो, तो भी ठीक नहीं । अशक्ति होने से यह मनुष्य से बन नहीं सकता । और यदि निरन्तर सुनता ही रहै तो भोजनादि जीवन व्यवहार कब करै कैसे करै ? । दूसरी अडचल यह है कि सब के सब भगवद्वाचक पद और वाक्यादि को एक ही मनुष्य उपस्थित कर नहीं सकता । यदि कहो कि कुछ थोडे ही सही, तो यह थोडे से शब्द और वाक्य तो सबके रात दिन परिचय में आरहे हैं उनके लिये विधि करना व्यर्थ है ।

अब यदि पदवाक्यों के सम्बन्धों का निर्धार करना ही श्रवण का अर्थ है कहो, तो वह असम्भव है, कीर्तन स्मरण में भी यही अनुपपत्ति है । क्यों कि सबके सब भगवद्वाचक पद वाक्य किसी को भी उपस्थित हो न सकेंगे, फिर उनकी शक्ति (संबन्ध) का निर्धार कैसे हो सकता है । और थोडे बहुत पदवाक्यों का शक्तिनिर्धार सबने करही रक्खा है उसके लिये शास्त्राज्ञा की अपेक्षा ही नहीं है ।

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि, नहीं । यह बात इस तरह नहीं है । श्रवण का विषय भगवान् वासुदेव की दशप्रकार की लीलाये हैं। उन लीलाओं के वर्णन में तृतीयादि द्वादशान्त स्कन्ध हैं । इस द्वितीयस्कन्ध में सामान्यरीति से यह निर्णय करलियागया है कि सब ही पद और वाक्य भगवद्वाचक हैं । और फिर विशेष विशेष लीलाओं का वर्णन (शक्तितात्पर्य-निर्धार) अन्यत्र स्कन्धों में कियागया है । शक्तितात्पर्य का निर्धार पदवाक्यादि में किया जाता है, जैसे ' गजराज सुना है ' ' हाथी का शब्द सुना है ' । यहाँ गजराज और बृंहित दोनों शब्द हैं । जैसे वैयाकरण लोक सामान्यरीति से सब शब्दों को सत्ता वाचक मानकर फिर

विशेषरूप से निर्णय करते समय सत्ता का ही असंकोच संकोच और वक्ता की इच्छा के अनुसार तत्तत् विभिन्नार्थों में उन उन शब्दों का शक्ति (सम्बन्ध) निर्धार करलेते हैं। जैसे उत्तरमीमांसा में सब शब्दों का सामान्यरीति से ब्रह्म में शक्तिनिर्धार करके फिर 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि में विशेष विशेष रूप से शक्तितात्पर्य निर्धार करते हैं। इसी तरह से श्रीमद्भागवत के इस द्वितीयस्कन्ध में 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' 'शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्थाः' स्थलों में सामान्यरीति से सब शब्दों का दशविधलीलायुक्त-ब्रह्म (भगवान्) में शक्तितात्पर्यनिर्धार करलियागया है और फिर आगे अन्यस्कन्धों में विशेष विशेष रूप से तत्तद्रूप में अर्थसंकोच करके तत्तच्छब्दों का सम्बन्ध निर्णय कियागया है।

यहाँ एक प्रश्न और होता है कि शक्तिनिर्धार तो सम्पूर्ण द्वितीयस्कन्ध में है और अन्यलीलादि विषय आगे दूसरे स्कन्धों में है ही तो फिर इस श्लोक में 'भगवान् श्रोतव्यः' बस इतना ही कह देते। 'सर्वात्मा हरिः ईश्वरः' इन तीन पदों के कहने की क्या अपेक्षा थी। इसका उत्तर यह है कि वैदिकाभासमतों के अभिमत प्रतिपाद्य अर्थ को व्यावर्तन करने के लिये ये शब्द कहने आवश्यक हैं। कितने ही आत्मशब्द को परिच्छिन्न जीव सदृशमें ब्रह्म आदिशब्द मान रहे हैं सो यहाँ न समझलिया जाय इसके लिये 'सर्वात्मा' शब्द कहा। इस तरह अन्य शब्दों का भी कारण समझलेना चाहिये। इस का विशद खुलासा अन्यत्र आवेगा ही। सर्वात्मत्वादि भगवद्धर्मों का यहां निर्देश, श्रोतव्याविषयरूप से ही नहीं है किन्तु योग्य अधिकारी को भगवान् से ही फल मिलता है, भगवादितर से नहीं यह दिखाने के लिये भी है। फ़लदाता भगवान् को सबसे पृथक् दिखाने के लिये चारों पद हैं। यद्यपि भगवान् के गुण लीलायें अनन्त हैं तथापि वे सब दसप्रकारके धर्मों में ही आजाते हैं और दशप्रकार की लीला रहते भी अनन्त हैं यह बात हम आगे स्पष्ट करेंगे।

अब एक यहां और भी विचार करना है कि श्रवण कीर्तन स्मरण ये तीन साधनों के कहने की यहाँ क्या आवश्यकता है। प्रेम तो एक से भी हो सकता है। भगवान् के श्रवण से उनमे प्रेम होगा और प्रेम से साक्षात्कार होने पर अभयसिद्धि होजायगी फिर इन अन्यसाधनों की क्या आवश्यकता है ?। यदि कहो कि तीनों मिलकर ही अभयकी सिद्धि करसक्ते हैं, पृथक् पृथक् नहीं, तो यह भी ठीक नहीं। परीक्षितराजा ने श्रवण ही केवल किया है ऐसी अवस्था में उसे अभय की सिद्धि न होनी चाहिये। और हुई तो है। श्रवण तीनों में अवश्य प्राप्त है इसलिये श्रवण का ही विधान करना उचित है अन्य का नहीं।

इस पर कहा जाता है कि, ये तीनों ही एक दूसरे के निर्वाह करने वाले हैं। इस लिये तीन का ही विधान उचित है। कीर्तन का विधान यदि न करैं तो श्रवण ही न बन सकै। यदि

कहो कि अध्ययनविधि में (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) जैसे उसी विधि से विचार भी और अध्यापनादि भी अपने आप चले आते है इसी तरह यहाँ भी श्रवण के विधान में ही कीर्तन भी अपने आप आ जायगा । यह भी ठीक नहीं हैं । कारण कि अध्यापन संसारि कर्तव्य है इस लिये केवल उतने की विधि होने पर विचार अध्ययन आदि, वृत्ति के बल से अपने आप चले आवें यह हो सकता है। पर श्रवणादि संसारि कर्त्तव्य नहीं हैं इस लिये जितना विधान होगा उतना कर्त्तव्य करके मनुष्य कृतार्थ हो जावेंगे, फिर कीर्तन में प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? यदि कोई कहै कि तो फ़िर एक कीर्तन का ही विधान करो, श्रवण तो अपने आप हो ही जायगा । सो भी ठीक नहीं, परीक्षित में कीर्तन न होने से उसका अभय अनुपपन्न हो जायगा । और अभय तो हुआ ही है । इसलिये श्रीशुक की तरह जो अतिनिरपेक्ष पुरुष हैं उनकी भी हरिकीर्तन करेने में प्रवृत्ति होने के लिये दोनों का ही विधान उचित है । तब ही श्रवण भी सिद्ध हो सकैगा । फल तो प्रत्येक का भी समान मिलै यह बात दूसरी है । यहाँ अभय का अर्थ है भगवान् में प्रवेश (आश्रय) प्राप्ति । क्यों कि भगवदाश्रय मिलने पर ही सर्बभयों की निवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं ।

तो फिर स्मरण की विधि व्यर्थ है । यदि कहो कि स्मरण की बिधि न होने से श्रवणके अनन्तर कीर्तन का विस्मरण हो सकता है तो भी ठीक नहीं । विस्मरण होने पर भी श्रवण के द्वारा उसका स्मरण होना सम्भव है । इसलिये स्मरणविधि व्यर्थ है । नहीं, स्मरणविधि भी होनी चाहिये । एक दफे कीर्तन होजाने पर भी विस्मरण असम्भव नहीं है । कीर्तनाङ्गरुपसे स्मरण अवश्य प्राप्त नहीं है । और जब स्मरण का विधान ही है तब तो श्रवण कीर्तन सर्वदा होते रहेंगे । और स्मरण का अन्तः प्रवेश होने से अन्य कोई दोष वहाँ घुस न सकेंगे । इसलिये श्रवण कीर्तन और स्मरण तीनों की विधि सार्थक है ।

यह श्रवण कीर्तन स्मरण आजन्म होने चाहियें । एक के बाद एक, होते ही रहैं । संसारभय के ज्ञान होने पर प्रारम्भ, और अन्तिम अवधि, देहपात । अत एव सूत्रकार ने कहा है कि ' आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ' । तत्त्वमसि इत्यादि सिद्धान्तों का नौ बार जो पुनरावर्तन आया है वह उपदेश होने से भी । यद्यपि इन तीनों की आवृत्तियों से यदि प्रभुमें स्नेह होजाय तो आवृत्ति की प्रेरणा की अपेक्षा नहीं होती, क्यों कि स्नेह ही इन की आवृत्ति अपने आप करा लेता है । तथापि जैसे भरतजी को कुछ स्नेह होने पर भी प्रारब्ध वश हिरन के बच्चे में आसक्ति हो गई थी। इसी तरह साधक को भी अन्यासक्ति हो सकती है। यदि कहो कि जब इतना कमजोर अधिकार है तब उसके लिये श्रवणादि विधि भी व्यर्थ सी है । सो भी ठीक नहीं । यह कमजोरी न आने पावै प्रारब्ध भी रुकावट न करै इसी के लिये श्रवणादि साधनों की आवृत्ति कही जाती है । इस लिये यथासम्भव देहपात पर्यन्त तीनों की आवृत्ति करते रहना चाहिये ।

यहाँ कितने ही आत्मज्ञान को ही प्राधान्य देना चाहने वाले ज्ञानिमानी प्रश्न करते हैं कि श्रुति में श्रवण की तरह मनन निदिध्यासन का विधान है फिर यहां तुमने भी मनन निदिध्यासन का विधान भी क्यों न किया? और ब्रह्मज्ञान को फल क्यों न कहा? क्यों कि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' ज्ञान से ही तो शुद्ध चेतनता प्राप्त होती है' यह श्रुति, ज्ञान से मोक्ष मिलना कह रही है। यदि कहो कि ज्ञान तो अर्थात् सिद्ध है, उसकी विधि की क्या अपेक्षा है, तो कहना पडेगा कि ऐसी अवस्था में ज्ञान को व्यापारता आवैगी। और आपने तो यहां स्नेह को व्यापार स्थानीय रखने की इच्छा की है इसलिये ज्ञान को फलरूप कहना उचित था।

यह कहना भी ठीक नहीं है। ज्ञान तो शाब्दरूप सिद्ध ही है। अङ्गादि सहित जो विचार करैगा उसे शाब्दज्ञान तो हो ही जायगा। और मनन निदिध्यासन भी श्रवण के ही लिये किये जाते हैं इस लिये अङ्ग होने से श्रवण में उन दोनों का समावेश हो जाता है।

यदि ज्ञान से साक्षात्कार लेते हो तो प्रेमसहित श्रवण कीर्तन और स्मरण के द्वारा साक्षात्कार होना भी सम्भव है ही। यदि अन्तिम साक्षात्कार की कहते हो तो वह तो फल के अव्यवहित समीप है इसलिये उसकी गणना तो फल (प्रवेश) में की जाती है।

यहां यदि कोई कहै कि जैसे आध्यात्मिक श्रवण के द्वारा शुद्ध हुए संस्कार वाले मनसे शारीर ब्रह्मांश आत्मा का साक्षात्कार होता है वैसे ही यहां तुम्हारे इस श्रवण से भी वेदोक्त श्रवण ही ग्रहण कर उसी शुद्ध मनसे भगवत्साक्षात्कार होता है ऐसा क्यों नहीं मानते इस श्रवणादि को पृथक् मार्ग क्यों मानते हो? इस पर कहते हैं कि नहीं 'नाहं वेदैर्न तपसा' गीतावाक्य में वेदोक्त श्रवणादि के द्वारा अधिकार भेद होने से भगवत्प्राप्ति का निषेध कहा है। और शारीर आत्मा का साक्षात्कार ही मुख्यफल भी नहीं है, क्यों कि देहादिसंघात से मुक्त होकर शुद्ध अक्षरात्मकता प्राप्त होने के बाद ही मुख्य भगवच्छ्रवण का मुख्य अधिकारी होता है। फिर जो आत्मा (सर्वात्मा) भगवान् का साक्षात्कार होता है वह मुख्यात्मसाक्षात्कार रूप फल है। 'एतावदरे खल्वमृतत्वं' यह जो याज्ञवल्क्यसंवाद श्रुति है वह भी ब्रह्मप्रकरण की होने से ब्रह्मरूप (सर्वात्मा) आत्मा [भगवान्] के ही साक्षात्कार को फल कह रही है।

भगवान् स्वतन्त्र है, साधन परतन्त्र नहीं, वह वैदिक श्रवण के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता भगवदितर साधनों से उसकी प्राप्ति असम्भव है, इसलिये इस भक्तिमार्गीय श्रवणादि द्वारा ही उसका साक्षात्कार होना कहा है।

जो लोग ' दशमस्त्वमसि ' ' तत्त्वमसि ' इत्यादि वेदवाक्य मात्र के श्रवण से, जैसे स्वप्न की निवृत्ति हो जाती है और अपनपा दीख जाता है, इसी तरह ब्रह्मरूप शारीरात्मा की भी स्फूर्ति हो जाती है। किं वा सब अविद्यादि दोषों की निवृत्ति हो जाती है। और आत्मा की कृतकृत्यता हो जाती है ऐसा मानते हैं। यह सब ज्ञान साधनों में अशक्ति रखने वालों की मन की उमंग की बातें मात्र हैं। फल तो फल की रीति से ही प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक श्रवणादियुक्त आत्मज्ञानी श्रीशुकसनकादि भी अभी तक ब्रह्मान्वेषण कर ही रहे हैं, उनकी भी कृतकृत्यता प्रेमानन्तर आश्रय (सायुज्य) प्राप्ति हो जाने से ही होगी। इस लिये मानना पडैगा कि सायुज्य होने पर ही सर्व भयों की निवृत्ति हो सकती है। 'ब्रह्मैव०' ब्रह्म हो जाने पर ही ब्रह्म में मिल जाता है ' यह श्रुति भी ब्रह्मसायुज्य होने से अभय प्राप्ति कह रही है। यदि कहो कि तौ फिर वेदमार्ग ही व्यर्थ हो जाता है तौ भी ठीक नहीं। वेदमार्ग सार्थक है। साधनप्रकार का ही भेद है, प्रमेय और फल तौ दोनों के एक ही हैं, वेदमार्गीय श्रवणादि साधन और उसके अधिकारी जुदे हैं। और भक्तिमार्गीय श्रवणादिसाधन और इसके अधिकारी जुदे हैं। अधिकारियों के भेद से पृथक् पृथक् साधनों के द्वारा एक ही भगवान् का सायुज्य दोनों को मिलता है और अभयप्राप्ति भी होती है। क्यों कि ' ते प्राप्नुवन्ति मामेव ' ' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ' (गीता) और सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ' ' तद्विष्णोः परमं पदम् ' ' तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ' आदि वाक्यों में सब का प्राप्तव्य एक ही कहा गया है।

इस सब ग्रन्थ का यह तात्पर्य है कि त्रैवर्णिक भागवतों का वैदिकप्रकार और भागवतोक्तप्रकार से भगवान् में प्रवेशरूप सायुज्य होता है। और त्रैवर्णिकेतर शूद्रादि को भागवतोक्तप्रकार के द्वारा भगवत्सायुज्यप्राप्ति होती है। इस कहने का व्यवस्थित विकल्प में तात्पर्य नहीं है। क्यों कि भगवान् ने कहा है कि मेरे कहे हुए इस मार्ग से यदि पवित्र ब्राह्मण और राजर्षि आदि भक्त भी मेरी भक्ति करें तौ फिर कहना ही क्या है ' इत्यादि।

अत एव श्रुति विरोध भी नहीं आ सकता। चित्तासक्ति के भेद से ही विकल्प और अधिकारि भेद है। वर्णभेद से नहीं। यह बात ' अव्यक्तासक्तचेतसाम् ' आदि वाक्यों से स्पष्ट है।

शाण्डिल्य ने जो कहा है कि उपनिषन्मार्ग से भगवत्प्राप्ति नहीं होती यह भी चित्तशुद्धि न होने के कारण से ही कही है, मार्ग की असाधकता लेकर नहीं है। वैदिकमार्ग में चित्तशोधक साधन कष्टसाध्य होते हैं इसलिये असमर्थ अधिकारियों को वैदिक साधनों के द्वारा भगवत्प्राप्ति असम्भव हो जाती है। इस में पुरुषदोष है मार्गदोष नहीं। शाण्डिल्यादि के जो वचन हैं वे वैदिक मार्गनिन्दापरक नहीं है किन्तु स्वपक्ष (भक्तिमार्ग) स्थापनपरक हैं इसलिये

श्रुतिविरोध नहीं आ सकता । इसलिये व्याससूत्रविचारानुसारि वैदिकमार्ग से अथवा श्रीभागवतोक्तमार्ग के द्वारा अपने अपने अधिकार के अनुसार सब को परमपुरुषार्थ श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है यह कहना निर्दोष है ।

यहाँ विधिविशेषों का विचार करना तो आवश्यक नहीं है क्यों कि लिङ् लोट् और लेट् लकारों का ही विध्यर्थ में विधान है । तव्यप्रत्यय का तादृशविधि में विधान ही नहीं है। भगवान् लोक और वेदप्रसिद्धपदार्थ हैं इसलिये भी विधि नहीं हो सकती । अपूर्व में ही विधि उक्त है । और फिर यह भक्तिशास्त्र धर्मशास्त्र नहीं । कृतिसाध्य में विधि (आज्ञा) अपेक्षित है, प्रेम में नहीं । यदि कहो कि यदि भगवत्प्राप्ति में श्रवणादि को कृतिसाध्यता नहीं तो फिर फल की प्राप्ति में साधनता भी कैसे हो सकती है सो भी ठीक नहीं । भगवत्प्रवेशार्थ ही इन श्रवणादि को कहा है इसलिये साधन तो हो सकते हैं । यदि कोई यहाँ पर शङ्का करै कि जब यह विधि भी नहीं है और देवता स्मारक न होने से मन्त्रादिरूपता भी नहीं है इसलिये अर्थवाद मानना पड़ैगा । ऐसी अवस्था में सिद्धार्थप्रतिपादकता होने से अनुवाद मानने से अनधिगतार्थगन्तृता न होने से अप्रमाणता हो जायगी ! इसका उत्तर इतना ही है कि यद्यपि भगवान् सर्वलोकप्रसिद्ध हैं तथापि उनके साथ भजन का संसर्ग लोकानधिगतार्थ होने से अपूर्व ही है, इस लिये प्रामाण्य की हानि नहीं होती । भावनापक्ष के विषय में इतना ही कहना है कि श्रुति या विधि का कर्त्तव्य इतना ही है कि वह यज्ञादिसाधन और उनका फल कह दे किन्तु प्रेरणा करना यह विधि का कार्य नहीं है। यह तो हृदेशस्थ भगवान् का ही कार्य है । इसलिये भावनापक्ष असंगत ही है ।

श्रोतव्यादि में तव्यप्रत्यय है वह 'कृत्याश्चेति' आवश्यकार्थ अनुवृत्ति लाकर आवश्यकार्थ में माना है, और आवश्यकार्थ प्रश्न के उपयुक्त भी है । इसलिये भगवान् में प्रवेश होने के लिये तथाधिकारी जीवों को यावज्जीव श्रवण कीर्तन स्मरण तीनों की आवृत्ति करते रहना चाहिये । सुनना कीर्तन करना, कीर्तन करना स्मरण करना, स्मरण करना, कीर्तन करना सुनना इत्यादि रूपसे । इसलिये मूलश्लोक में दो चकार कहे गये हैं । 'इच्छता' पद से यह भी सूचन किया है कि यदि कोई श्रवणादि न करै तो कोई पाप न होगा केवल उसे भगवत्प्रवेश (प्राप्ति) न होगी, जो होनी चाहिये थी ॥ ५ ॥

१—सिद्धपदार्थ जैसे राजा जाता है, यहां राजा सिद्धपदार्थ है कोई साध्यबात नहीं है इस लिये यह वाक्य प्रमाण नहीं होता । कृतिसाध्य नहीं है इसलिये ।

२—जो बात हमने नहीं जानी है उसे कहने वाला वाक्य ही प्रमाण होता है और जो समझी हुई बात है उसे जताने वाला अनुवाद वाक्य स्वतः अप्रमाण होता है ।

श्रवणस्याऽङ्गत्वे श्रुतेः संवादित्वात्स्मरणकीर्तनयोः फलहेतुत्वं साधनीयं वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणाय। तत्र प्रथममितरा-सापेक्षत्वात्स्मरणस्य फलसाधकत्वं साधयति—

श्रवण तो साक्षात्कार का अङ्ग है यह श्रुति से मिलती हुई बात है। पर अब वादी को कुछ कहना न पडै इसलिये स्मरण और कीर्तन भी फलके हेतु हैं यह सिद्ध करना है। इन दोनों में स्मरण पुरुषान्तर की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पहले इस की फलसाधकता कहते हैं—

एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥ ६॥

मूलार्थः—आत्म अनात्मविचार, चित्तवृत्तिनिरोध, और वर्णाश्रमादि धर्मों में निष्ठा, इत्यादि धर्माचरणों से जन्म लेने का यही परम लाभ कहा जा सकता है कि जो मनुष्यों को अन्त समय में नारायण भगवान् की याद आवै॥ ६॥

सुबोधिनी।

एतावानिति। पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः। तत्र श्रुतिवैष्णवौ समप्रधानत्वेनोक्तौ। पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेनोत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथमुपयोगः। क्रममुक्तिहेतुत्वेन वा। अतः परं साङ्ख्ययोगौ धर्मशास्त्रं च सर्वाङ्गत्वेन प्रतिपादितम्। स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वादन्यत्र प्रवेशमलभमानाः स्मरणशेषा भवन्तीत्याह। एतावान्पुरुषार्थ इत्यर्थः। बुद्धिस्थमेतच्छब्दार्थं विवृणोति—**अन्ते नारायणस्मृतिरिति**। अयमेव परो जन्मलाभः। स्वधर्मस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकारेणोत्तमदेहजननं फलम्। तथा योगस्याऽपि। "**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभि-जायत**" इत्यारभ्य "**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि**" त्युपसंहाराद्योगेनाऽप्यन्तिमो देहः साध्यते साङ्ख्येऽपि—"**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत**" इति वाक्यात् "**ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मत**" इति योगप्रशंसावाक्याच्चाऽन्तिमजन्मसाधकत्वमेव। भगवद्धर्माणामपि व्रतोपवासादीनां भगवदीयदेहसाधकत्वम्। अतोऽन्तिमदेहे सर्वे उपक्षीणाः। न च सोऽपि देहः स्वरूपभूतः सन्फलसाधकः। किन्तु "**अन्ते या मतिः सा गतिरि**" ति न्यायात् "**यं यं वाऽपि स्मरन्भावमि**" ति भगवद्वाक्याच्चाऽन्ते भगवत्स्मरणहेतुत्वेन तदुपयोगः। स चेदस्मदुक्तप्रकारेण यस्मिन्कस्मिंश्चिदपि देहे अन्ते भगवत्स्मरणं भवेत् तदा "**पूर्वात्परबलीयस्त्वमि**" ति न्यायेन स एव देहोऽनन्तिमोऽप्यन्तिमत्वमापद्यमानो लाभत्वेन सम्पद्यते। योगादयश्च स्वस्वमार्गेण दूरफलाः सन्तोऽत्रैव प्रविशन्ति। अतो देहसाधकानां योगादीनां देहस्य चाऽयमेव लाभो यदन्ते नारायणस्मृतिरिति। अतोस्य साक्षाद्भगवत्प्रवेशहेतुत्वाच्चाऽत्र विधिशेषतया श्रुतिसंवादोऽपेक्षितः। यद्यपि भगवदीयत्वमपि जन्मलाभस्तथापि ततोऽप्ययं परः। ननु "**अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाऽऽद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था**" इति वाक्यविरोध इति चेत्? तत्राऽऽह—**पुंसामिति**। भगवदीयत्वं हि साक्षाद्भगवदनुगृहीतानां पुष्टिमार्गीयाणां जन्मलाभरूपमित्युच्यते। इदं तूक्तसाङ्ख्यादिमार्गाणां प्रावाहिकमर्यादामार्गरूपत्वात्तन्निष्ठानामपि तथात्वादन्ते या मतिरिति न्यायेनाऽन्ते भवगत्स्मृतौ तत्प्राप्तिर्भवतीति तस्यास्तथात्वमुच्यत इति नोक्तविरोधः। **पुंसामिति**। साधारणानामपीत्यर्थः। अतो महाफलत्वात्स्मरणस्य सर्वदा भगवान्स्मर्त्तव्य इति सिद्धम्॥ ६॥

भावबोधिनीभाषाटीका ।

पुराणेतिहासों में ' सांख्ययोगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ' इत्यादि में आत्मानात्मविचार शास्त्र, योगशास्त्र, पञ्चरात्र, वेद, और पाशुपतमत ये पाँच ज्ञान, स्वतंत्र फल देनेवाले कहे हैं। इनमें वेदमार्ग और पंचरात्रमत दोनों प्रधान और बराबर के बताये हैं । पशुपतिमत तामसों के लिये है। इस लिये वैसे ही कल्प में साधकों को तदवस्था से उत्कर्ष प्राप्ति कराकर परम्परा से वैदिक किंवा वैष्णवमत में उपयोगी होता है । अथवा ' तुष्टे त्रिलोचने तस्य-भक्तिर्भवति केशवे ' इत्यादि दिशा से पाशुपतमत क्रममुक्ति देनेवाला भी माना है। इसके आगे सांख्ययोग और साधारण धर्मशास्त्र, वैष्णवादि मतों के भी अङ्ग हो सकते हैं। इसलिये यद्यपि स्वतन्त्रतया ब्रह्मविचार में इनका प्रवेश नहीं है तथापि प्रधान देवता (शिव विष्णु) के स्मरण में अङ्ग हो जाते हैं । बस यही इनका पुरुषार्थ है कि अन्तसमय में भगवत्स्मरण की योग्यता तयार कर देते हैं । वह इस तरह स्वधर्माचरण करने से पञ्चाग्निविद्या के अनुसार उत्त-

---

१ सांख्य । २ इस पञ्चाग्नि विद्या का इतिहास छान्दोग्योपनिषत् के सप्तम प्रपाठक में इस तरह वर्णन किया गया है—गौतमगोत्र आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु जब पञ्चाल देश के राजा जीवल के पुत्र प्रवाहणि की सभा में कुछ सीखने गया तब राजा प्रवाहणि ने उससे पांच प्रश्न किये कि श्वेतकेतो ! तुम्हारे पिता भी विज्ञान सभा के अध्यक्ष हैं । क्या तुमने उनसे पांच बातें सीखली हैं ? १—जिस कारण से मरे हुए लोक यहां से ऊपर के ओर जाते हैं उसे तुम जानते हो ? २ —जिस कारण से ऊपर गये हुए लोक फिर इसी लोकमें पीछे चले आते हैं यह जानते हो ? ३—देवयान पितृयान के भेद को समझा है ? ४ —ऊपर के लोकोमें बहुत से लोक जाते ही हैं पर अभीतक वह भरता नहीं हैं, इसका कारण जानते हो ? ५—और कौनसी पांचवीं आहुति में ' आप ' नामक जल, मनुष्य कहने योग्य हो जाते हैं, यह जानते हो ?

इन पांचों पश्नों का उसने उत्तर दिया कि यह कुछ भी मुझे नहीं आता । हां मेरे पिता जानते हों तो मुझे मालूम नहीं । राजाने कहा तो जाओ अपने पिता से पूछ आओ । उसने अपने पितासे जा कर वे ही बातें पूछीं तो पिताने भी कहा कि पुत्र यह तो मैं भी नहीं जानता । यदि जानता तो तुझे पढा देता । तब वे दोनों फिर पञ्चाल विज्ञान-सभाध्यक्ष प्रवाहणि के समीप आये । राजाने उनका पूजन किया । और दूसरे दिन प्रातःकाल आने को कहा । जब वे प्रातः सभा में पहुँचे तो राजाने कहा कि भगवान् आप विद्वान् ब्राह्मण हैं मैं क्षत्रिय हूं। अत एव मनुष्य जो दे सकता है ऐसा कोई एक वर मांगिये । गौतम आरुणि बोले कि राजन् ! ये मनुष्य सम्पत्ति आप ही के पास रहे मुझे तो जो बातें आपने मेरे पुत्र से पूछीं हैं उन्हें सिखा दीजिये । इस पञ्चाग्नि विद्या के अति गुप्त होने से राजा बडे असमञ्जस में पड गया । पर प्रतिज्ञा कर लेने से कहा कि विद्वन्, थोडे दिन ब्रह्मचर्य से रहिये मैं आपको कहूँगा । जब ब्रह्मचर्य पूरा हुआ और प्रातः दोनों पिता पुत्र उपस्थित हुए तब हाथ जोड कर बोला कि विद्वद्वर ! आज मैं सिखाता हूँ । यह मेरा अपराध है । पर मैं क्या करुं, आपके कथनानुसार यह विद्या पहिले पहल ब्राह्मणों के पास न जाकर क्षत्रियों को ही मिली, इस लिये आज क्षत्रिय ही इसको सब ब्राह्मणों को सिखाते हैं । सो अब मुझे क्षमा दीजिये । सुनिये—

पांच आहुतियां पांच अग्नियों में दी जाती हैं। १-देवलोक अग्नि में देवगण श्रद्धानाम जलकी आहुति देते हैं, जिससे सोम नाम पदार्थ तयार होता है । २—दूसरा पर्जन्य नाम अग्नि है, जिसमें देवगण पूर्वोक्त सोमराज की आहुति देते हैं

मदेह की प्राप्ति फल होता है । ' शुचीनां श्रीमतां गेहे ' और अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ' इत्यादि भगवद्वाक्य से स्पष्ट होता है कि योग भी उत्तम या अन्तिम जन्म देह सिद्ध कर देता है । सांख्य के विषय में भी विचार किया जाय तो कहना होगा कि ' बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ' ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः ' इत्यादि भगद्ववाक्य के अनुसार योग, सांख्य, दोनों को अन्तिम जन्म देहसाधकत्व है । साधारण भगवद्धर्म एकादश्यादि व्रत उपवासादिक भी भगवदीय देह करने वाले हैं । इस तरह ये पूर्वोक्त सब शास्त्रीय साधन अन्तिमजन्म देह तयार कर देने में उपयुक्त होते हैं । इस से यह न समझ लेना चाहिये कि वह देह अपने स्वरूप से फल की सिद्धि कर सकता है, नहीं नहीं ' अन्ते या मतिः सा गतिः ' और यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं ' अन्त में जो बुद्धि होती है वही गति मिलती है। जिस जिस पदार्थ की भावना करता हुआ अन्त में अपने देह को छोडता है उसे उसी पदार्थ की प्राप्ति होती है । इत्यादि वाक्यों के अनुसार यह देह तो भगवत्स्मरण योग्यता तयार कर देता है । अब यदि भागवतोक्त प्रकार से रहने से अन्त में भगवान का स्मरण हो सके तो यह देह अन्तिम न होने पर भी अन्तिमता को प्राप्त होता हुआ वैष्णवता के लाभ को करा देता है । उस का भगवत्प्रवेश होता है । योगादिक भी अपने अपने मार्गों द्वारा यद्यपि दूर फल हैं तथापि परम्परा से नारयणस्मृति करा देने में उपयोगी हो सकते हैं । इसलिये कहना पडैगा कि अन्तिमदेह सम्पादक साधनों का और अन्तिमदेह का भी यही परमलाभ है जो मरण के अन्तिम क्षण में श्रीमन्नारायण का स्मरण होता रहै । यद्यपि भगवद्भक्त होना भी जन्मका लाभ है पर ये जन्मलाभ उससे श्रेष्ठ है ।

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि श्रीमद्भागवत के पंचमस्कन्ध में तो कहा है कि ' भगवान् की सेवा करने वाले भागवत लोक आत्यन्तिक मोक्षरूप परमपुरुषार्थ और वह भी अपने आप मिलता हो तो भगवत्सेवा के आगे उसका आदर नहीं करते क्यों कि वे तो भगवदीयपन से ही कृतार्थ हो चुके

जिससे वर्षा होती है । ३—तीसरी पृथिवी भी अग्नि है, इसमें देवलोक वर्षा की आहुति देते हैं जिससे अन्न पदार्थ पैदा होता है ।४—चतुर्थ पुरुष नामक अग्नि है जिसमें इन्द्रिय प्राणादि देवगण उसे अन्नरूप की आहुति देते हैं जिससे वीर्य नामक पदार्थ पैदा होता है । "योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समित्, यदुपमन्त्रयते स धूमो, योनिरर्चि, र्यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः, अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति । इति पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति । "

अर्थात् स्त्री ही यहां की अग्नि है इस में पुरुषस्थित देवगण रेतस् (वीर्य) की आहुति देते हैं जिससे गर्भ पैदा होता है । इस तरह द्युलोक से चला हुआ श्रद्धा नामका जल ही यहां आ कर पांचवीं आहुति स्त्री में पुरुष कहने योग्य हो जाता है । इन पांच आहुतियों से पवित्र हुआ पुरुष देह निर्मल पवित्र हो जाता है । अत एव यह ज्ञानी किंवा भक्तों को मिलता है और इस लिये यह देह अन्तिम कहा जाता है । अन्तिम देह मिलना ही यहां फल है ।

हैं । ' और यहाँ आप नारायण स्मरण को ही परम जन्म लाभ कह रहे हो तो उस वाक्य का विरोध आवेगा सो कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ' पुंसाम् ' ।

दो दृष्टि हैं । एक भगवान् के अनुग्रहीत पुष्टिमार्गीय भक्तों की दृष्टि और दूसरी साधारण पुरुषों की दृष्टि । सांख्यादि मार्गों के अनुसार चलने वाले साधारणपुरुष प्रावाहिक और मर्यादामार्गीय हो सकते हैं । और सेवा के आगे मोक्षादि परमपुरुषार्थों की चाहना भी नहीं रखने वाले तो साक्षाद्भगवान् के अनुग्रह भाजन भगवदीय, भगवदनुग्रह से ही उस दशा को पहुंचे होते हैं । अब यदि साधन की दृष्टि से देखा जाय तो पुष्टिमार्गीय पुरुष उन के आगे कोई वस्तु नहीं है । जो सीढी चढ़ता२मइनत कर महल पर गया है वह, और दूसरा वह जो किसी समर्थ के हाथने खेंचकर लेजाने से या लिफ्ट पर बैठ कर महलपर पहुंच गया है । इन दोनों में श्रम की दृष्टि से तो पहले ही श्रेष्ठ कहे जा सकेंगे । दूसरे तो बहुत सुखी होने पर भी ढ़पोल पोल ही कहे जायँगे । इसी तरह जो साधारण पुरुष सांख्ययोगादि की सिढियाँ चढ कर भक्तिमार्ग द्वार में हो कर नारायणस्मृतिरूप महल में भले पहले ही पहुँचे हैं तो भी वे साधन दृष्टि से यहां श्रेष्ठ कहे गये हैं। अथवा उनका जन्म लेना श्रेष्ठ ही कहा हो तो भी पंचम स्कन्धीय वाक्य का कोई विरोध नहीं कहा जा सकता । इस लिये यह कहना उचित ही है कि साधारण पुरुषों के साधनों के द्वारा अन्तिम जन्म मिलकर जो अन्त में श्रीनारायण का स्मरण होता है उनका वह महा फल है अत एव जन्म का परमलाभ है । इस लिये सब को भगवान् का स्मरण करना योग्य है ॥ ६ ॥

इदानीं कीर्त्तनस्य तथात्वं साधयति —

अब कीर्तन भी भगवत्प्रवेशरूप फल की प्राप्ति कराता है यह पांच श्लोकों में सिद्ध करते हैं:—

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥

मूलार्थ:—हे राजन् ! बहुत करके जो मुनि लोग विधि निषेधों से निवृत्त हो चुके हैं, और निर्गुण भगवान् में ही रमण करते रहते हैं वे भी हरि भगवान् के गुणवर्णन में तो आनन्द पाते ही हैं ।। ७

प्रायेणेति । कीर्त्तनं तु ततोऽप्यधिकम् । येषामन्तिमं जन्म जातं ये च जीवन्मुक्ताः केवलं गुणातीत एव व्यवसिताः पुनरावृत्तिसम्भावनारहितास्तेऽपि हरेर्गुणानुकथने श्रवणान्तरभाविनि कीर्त्तने परमानन्दरसमुपलभमानाः साधनदशायामेवैवं सुखमेतत्साध्यफलदशायां कीदृशं सुखं भविष्यतीति मन्यमाना रमन्ते । स्मेति प्रसिद्धेः । केचन पुनर्मनन एव पर्यवसितमतयः असम्प्रज्ञातसमाधयो वा तस्मिन्नेव दुःखे स्थिताः । तेऽपि उत्थानाभावान्न रमन्ते । तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रायग्रहणम् । राजन्निति

सम्बोधनं तथाभूतशमीकस्मरणाय । अत्र विषयरसादेव तथा रमणम् । न तु कृतेर्धर्महेतुत्वेन । ते हि **कृतिगुणदोषसम्बंध** रहिताः । तदाह—**निवृत्ता विधिषेधत इति** । विधिसहितान्निषेधान्निवृत्ताः। “ **द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छती**’ ति न्यायेन ब्रह्मभूता अपि । “ **दोषबुद्ध्योभयातीत** ” इति वाक्यात् । विधिसहितनिषेधकथनेन चैतज्ज्ञापयति “ **बुधो बालकवत्क्रीडेदि** ” त्यादिवाक्यानि यद्यपि विधिरूपाणि तथाप्यस्याऽग्रे निषेधाभावान्नैतेषां ग्रहणमिति । नैर्गुण्ये गुणत्रयातीते स्वस्मिन्नेव स्थिताः । विरोधाभासबोधनार्थं गुणग्रहणम् । तस्मात्स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्कीर्त्तने शङ्काऽपि न कर्त्तव्या ॥ ७ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

कीर्तन तो भगवत्फलसाधकता में बढकर है । जो लोग अन्तिम जन्म में पैदा हुए हैं, जीवन्मुक्त हैं, प्राकृतगुणरहितब्रह्म में जिनकी बुद्धि निश्चित हो चुकी है और वहां से फिर पीछी बुद्धि आने की संभावना भी नहीं है वे भी भगवल्लीलागुणों को सुन कर जब उनके कीर्तन करते समय परमानन्दरस का अनुभव करते हैं तब यह सोचकर कि कीर्तन की साधनदशा में ही यह सुख मिल रहा है तब फिर आगे इसकी फलदशा में तो न जाने कैसा सुख मिलेगा यों कीर्तन करने में ही रमते रहते हैं उनकी तो बात ही क्या है । यह बात श्रीशुकादि के दृष्टान्त से प्रसिद्ध है ।

कितने ही मनन तक पहुँच कर ही ठहर जाते हैं । अथवा विराम प्रत्यय के बाद योगी को भगवद्ध्यान में सर्वावयवध्यान के त्याग के बाद जो एक संस्कार शेषमात्र रह जाता है उस समाधिवाले जो उस सुख में फँस जाते हैं वे भी उससे छुटकारा न होने से भगवत्कीर्तन करने में नहीं रहते उनकी सूचना करने के लिये प्रायग्रहण है । ऐसी समाधिवाले शमीक-ऋषि का स्मरण कराने के लिये यहां ‘ राजन् ’ यह संबोधन दिया है । यह कीर्तन करना कुछ उनका धर्म है इस लिये रमण करते हैं सो नहीं किन्तु भगवद्रूपवस्तु ही इतनी मधुर है कि वहां से हटा ही नहीं जाता । वास्तव में देखा जाय तो नैर्गुण्यस्थ होने से वे तो क्रियां के गुणदोष सम्बन्ध से पहले ही, रहित हो चुके हैं । ‘ द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छेति ’ दोषबुद्ध्योभयातीतः । इत्यादि वचनों से ब्रह्मरूप हो चुके हैं । किन्तु भगवद्वस्तु ही ऐसी है कि मन रमता है ।

विधिसहित निषेध के कहने से यह तात्पर्य है कि ‘ बुधो बालकवत् क्रीडेत् ’ इत्यादि वचन यद्यपि विधि जैसे दीख रहे हैं तथापि आगे इस अवस्था का भी कहीं निषेध नहीं आया है इस लिये वहां पूर्वोक्त जीवन्मुक्तों का ग्रहण नहीं है । ये लोग तो गुणत्रय को छोड़ कर जो सर्वव्यापक ब्रह्मरूप अपनपा है उस में स्थित हो चुके हैं । इस लिये यह कीर्तन तो स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप है इस लिये वे उसमें रमण करते हैं इसके विषय में तो शङ्का भी न करनी चाहिये ॥ ७ ॥

एवं युक्त्या द्वयं समर्थयित्वा त्रयस्याऽपि पुरुषार्थसाधकत्वे साधिते युक्तिमूलकमिदमप्रामाणिकमिति शङ्का स्यात् । तन्निवृत्त्यर्थमाह—

इस तरह कीर्तन श्रवण दोनों का एक साथ ही समर्थन करके और पूर्वोक्त स्मरण को मिला कर तीनों को पुरुषार्थ साधकता जो कही, यह तुम्हारा कहना युक्ति मूलक है इस लिये किसी को अप्रामाणिकता की आशङ्का हो तो उसकी निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥

मूलार्थः—यह भागवतपुराण वेद के समान है, मैंने इसका अध्ययन, द्वापर की आदि में अपने पिता द्वैपायन से किया था ॥ ८ ॥

सुबोधिनी ।

इदमिति । पुराणमिति प्रमाणम् । **भागवतं नामेति** तदवान्तरभेदः । यौगिकश्चायऽम् । तेन भगवता प्रोक्तं भगवत्प्रतिपादकं भगवत्फलं चेति । अस्य दुर्बलत्वं वारयति । ब्रह्मणा वेदेन सम्मितम् । परब्रह्म वा सम्यङ्मितं ज्ञातं यत्र । गुरुपरम्परामाह—**पितुर्द्वैपायनादिति** । तदानींतनकालस्य प्राणिबुद्धिनाशकत्वायाऽऽह—**द्वापरादाविति** । द्वापरस्याऽऽदौ तदानीमपि द्विपरा बुद्धिर्न जाता । **अधीतवानिति** वेदवन्नियमेनाऽर्थावबोधपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । **पितुरिति** । "**पितैवोपनयेत्पुत्रमि**"ति न्यायेन उपनयनाध्यापनयोरेककर्तृकत्वादध्ययनप्रकारः सर्वोऽपि सुसम्पन्न इति सूचितम् ॥ ८ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

पुराणशब्द कह कर इसकी प्रमाणता दिखाते है । भागवतनाम कह कर यह पुराण का अवान्तरभेद है यह स्पष्ट करते हैं ।

भागवत शब्द रूढ़ की तरह यौगिक भी है। इसलिये इसका यह अर्थ भी होता है कि जिसे भगवान् ने कहा हो, जो भगवान् रूप-फल को देनेवाला हो, और भगवद्वस्तु का प्रतिपादन करता हो वह भागवत है । पुराण होने से कोई मूर्ख इसे वेद से दुर्बल न समझ बैठे इसलिये कहा है कि ' वेद के बराबर है । ' अथवा जिसमें परब्रह्म अच्छी तरह समझ में आ जाता है । भागवत की परम्परा कहते हैं ' मैंने पिता द्वैपायन (व्यासजी) से यह पढी ' । वह समय प्राणिमात्र की बुद्धि का नाश करने वाला था (सन्देह होने से,) यह द्वापर शब्द का तात्पर्य है । तथापि मैंने उसके आदि में पढ़ी इस लिये उस समय बुद्धि द्विपर सन्देह युक्त होने नहीं पाई थी। अध्ययन का अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्यादि नियम पूर्वक अर्थावबोध सहित पढी । 'पितुः' कहने का तात्पर्य है कि उपनयनाध्यापन एकाचार्यकर्तृक होने का नियम है सो पिताने मुझे बुलवाकर उपनयनपूर्वक भागवत पढाई । अर्थात अध्ययन का सब प्रकार उन्होंने ही किया ॥८॥

नन्वस्याऽध्ययनस्य वेदवत्सामग्रीश्रवणादिदमपि विचार्यमेव। अतो नाऽनेन केवलेन निर्द्धारितार्थः प्रतिपत्तुं शक्य इत्याशङ्कयाऽऽह—

अब यहां एक यह विचार भी करना अच्छा है कि जब श्रीभागवत का अध्ययन वेद की तरह सर्व सामग्री सहित हुआ है तो विचार भी अवश्य ही किया गया होगा। क्यों कि विचार रहित इतने मात्र से अर्थ का निर्णय होना कठिन है, यह शंका किसी को हो उसके उत्तर में कहते हैं किः—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥ ९॥

मूलार्थः—हे राजर्षे! मैं निर्गुण भगवान् में एकनिष्ठावाला हो चुका था तथापि उत्तमकीर्ति श्रीकृष्ण की लीलाओं मे मनके खिचजाने से मैंने फिर इस भागवत (भगवद् चरित्र) को पढा॥ ९॥

सुबोधिनी।

परिनिष्ठितोऽपीति। ममाऽध्ययनं न बालवत्। किन्तु विचारपूर्वकम्। प्रथमतोऽधिकार एव मया विचारितः। ममेदं कर्त्तव्यं नवेति। तत्र सर्वस्याऽप्यध्ययनस्य—"आत्मलाभान्न परं विद्यत" इत्यादि श्रुतिभिरात्मपर्यवसानाद्गुणातीतसमाधिरूपे नित्यं स्थितः सन् भागवतस्य च रसमनुभूय तस्याऽप्राकृतत्वं ज्ञात्वा यथा ब्रह्मणि लीनो न समाध्यवस्थां भजते तथा ब्रह्मरसादप्यधिकारसत्वाद्गुणैर्गृहीतचेताः आख्यानमधीतवान्। आक्षरस्थो यो रसः स स्वस्थाने स्थितः स्वस्मिन्नागतान्प्रति न स्वात्मानं तथा प्रकाशयति। किन्तु केवलधर्मरूपेण प्रकटः। नृत्यपात्रस्थपेयजले च दर्शनात्। यदा भगवांल्लीलारूपेण प्रकटो जातस्तदा तस्यां लीलायां यो रसः स एव रसो ब्रह्मणि परं नाऽभिव्यक्त इति निश्चित्य किमर्थं तदाशया स्थीयते तदपेक्षयाऽपीदानीमेव रसः कथं न पीयत इति विचारसहितलीलया गृहीतचित्तत्वम्। इममर्थमाह—उत्तमश्लोकेति। उत्तमैः श्लोक्यत इति भगवानुत्तमश्लोकः। गुणकरणादेव भगवतः स्तोत्रमपि जनैः सह सम्बन्धोऽपि। तस्माद्यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसो निरतिशयत्वेऽपि सातिशयः स्वाऽभिव्यक्त्या भोक्तव्य इति येषामिच्छा तैर्लीला श्रोतव्येति निर्द्धार्य मया श्रोतव्यरसाभिज्ञेन आख्यानमधीतमित्यर्थः। राजर्षे इति सम्बोधनं यथा ऋषिदशायां राजसत्वरसस्फूर्तिरधिका ज्ञानमिश्रत्वान्मान्यताधिक्याच्च तथेदमपीति युक्तौ सम्मतिरुक्ता। अनेन मर्यादात्वेऽपि पुष्टिरूपमिदमित्युक्तम्॥ ९॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

मेरा अध्ययन अन्य बालकों की तरह नहीं हुआ है किन्तु विचार पूर्वक हुआ है। पहिले तो मैंने अपने अधिकार के विषय में ही विचार किया कि भागवत पढना मेरा कर्त्तव्य है या नहीं? जितना कुछ अध्ययन है उसका 'अपनपे के लाभ से श्रेष्ठ अन्य कोई लाभ है ही नहीं' इत्यादि श्रुतियों से मालूम होता है कि आत्म ब्रह्मलाभ पर्यन्त पहुँचना चाहिये। इसलिये मैं भी गुणत्रयातीतसमाधिरूपब्रह्म में नित्यस्थित था। परब्रह्म में लीन योगी जैसे पीछा समाधि अवस्था को छूना नहीं चाहता इसी तरह मैं भी उसी अवस्था में

भगवत्स्वरूपगुणों के रस का अनुभव कर और उनकी अप्राकृतता को देखकर ब्रह्मरस से भी अधिक रस होने से भगवद्गुणों ने मेरे हृदय को पकडही लिया है । मानो इस तरह खिंचा हुआ इस भगवत्कथा का अध्ययन करता था कि संसार में फिर आया ही नहीं ।

अगाध महासरोवर के जल में, किंवा नटादि के हृदय में क्या स्वाद है यह समुद्र या नट उस पर या, उसके आगे जाने वाले मात्रों को अपना अनुभव नहीं करा सकता । किन्तु नृत्य करने वाले नटादिपात्र स्वयंको ही अनुभवादि के द्वारा हृदयस्थ भी वह रस स्पष्ट अनुभव करने में आता है । इसी तरह सर्व व्यापक परब्रह्म में भी खूब स्वाद है पर जब तक वह उस (आश्रय) स्थिति में रहता है वहां तक उसके पास जाने वालों को भी अपना अनुभव नहीं कराता । धर्मरूप से प्रकाशित रहता है । किन्तु जब वही ब्रह्म, लीलारूप से बहिः प्रकट होता है, तब ही अनुभव कराता है । उसकी लीलाओं में जो रस है वही ब्रह्मावस्था में भी था ही पर इस तरह अभिव्यक्त नहीं था । तो अब उस ब्रह्मरस की आशा में कहां तक बैठे रहैं, जो स्वाद लीलागुणों में मिल रहा है उसका ही लाभ क्यों न उठाया जाय, ये मैंने खूब विचार करके बुद्धिपूर्वक अपने हृदय को भगवद्गुणों से कैद कराया था । यह सब अर्थ '**उत्तमश्लोकलीलया**' इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है । उत्तम पुरुषों को वर्णन करने योग्य जो वह उत्तम श्लोक, उसकी लीला (चरित्र) ।

गुणों को करण बनाने से ही भगवान् की स्तुति और भगवज्जनों के साथ सम्बन्ध भी रसास्वाद में ही आ जाता है । इस लिये भगवत्स्वरूपात्मक स्वाद (रस) एकत्र (ब्रह्ममें) निरतिशय (सम) रूपसे रहने पर भी अपने में जब लीलादिरूप से अभिव्यक्त होता है तब वही स्वाद अतिशय (विशेष) सहित भोगा जा सकता है, यह जिनका निर्णय हो उन भगवदीयों ने भगवल्लीलाओं का ही श्रवण करना चाहिये । इस तरह श्रवणीयवस्तु (भगवान्) के रस में अभिन्न होने से मैंने इस श्रीभागवत कथा का अध्ययन किया था ।

राजर्षे ! यह संबोधन इस आशय से दिया है कि राजन् तुम्हारे ऋषित्व प्राप्त होने पर भी राजापन का रस अधिक विद्यमान् है इस तरह मुझे भी ब्रह्मज्ञानमिश्र होने पर भी भगवद्-गुणों में स्वादानुसार मान्यता भी अधिक है यह युक्ति यहां भी समझ लेनी उचित है । इस से यह भी सूचित किया है कि यह मेरा भगवद्गुण कीर्तन मर्यादारूप होने पर भी पुष्टिरूप है ॥ ९ ॥

अतस्तादृशैरेव श्रोतव्यमिति कीर्त्तनरसास्वादनार्थं परिभ्रमता मया तादृशो भवानुपलब्धः । अतस्तदहं तेऽभि-धास्यामीत्याह—

ऐसे श्रोताओं के सुनने लायक ही ये गुण हैं। इस भगवद्गुणकथनरस के आस्वादन के लिये ही मैं अभी तक भ्रमण कर रहा था कि यहां मध्यमें तादृशरसज्ञ आप मिल गये यह बात कहते हैं किः—

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ १० ॥

मूलार्थः—मैं तुझे उस भगवच्चरित्ररस को चखाऊंगा। क्यों कि आप उस महापुरुष से संबन्ध रखने वाले हो। जिस भगवच्चरित्र की श्रद्धामात्र रखने वालों की भी मुकुन्द में भली बुद्धि हो जाती है। १० ॥

सुबोधिनी।

तदहमिति। तत्पूर्वोक्तमुद्भूतब्रह्मामृतरसभूतमहं कीर्त्तनरसप्रेप्सुस्ते तादृशाय तुभ्यमभिधास्यामि कथयिष्यामि। अथवा। ते त्वत्सम्बन्धिभूतं तत्त्वयि स्थापयित्वाऽहमेवाऽभितः सर्वतो धास्यामि पास्यामीत्यर्थः। पीतस्य पुना रसास्वादनं निष्कास्याऽन्यत्र स्थापयित्वा पुनः पाने भवति। इदं तु गजेषूपलब्धम्। अभितश्च पानं सेचनादिरूपम्। द्वैपायनपदस्याऽप्येतत्सूचकत्वम्। द्विगर्ता आपो यत्रेति तद्भवत्वादन्तर्बहिः पाता उक्तः। अन्तःस्थबहिःस्थयोश्च गुणयोः। अतः सूक्ष्मरूपभागवतद्वयं बहिः स्थितं भगवता ब्रह्मणा च प्रकटितमन्तः प्रवेश्य पुनः प्रकटितवान्। अत एवोत्पत्त्या चोपपत्त्या च भगवद्गुणानां स्वरूपविचारे तदुभयमुदाहृतम्। अन्यथा ब्रह्मणाऽनुभूयमानो भगवान् किमिति स्वगुणप्रकाशकं भागवतं वदेत्। सोऽपि नारदाय कथं वदेत्। अत उपपत्त्या भगवदपेक्षया गुणा अधिका निरूपिताः। उत्पत्तौ च अन्तः प्रविष्टा अपि ते गुणाः पुनर्बहिः कृताः। अतस्तेऽभिधास्यामीति सिद्धम्। ननु कथमहमत्राधिकारीत्याकाङ्क्षायामाह—**महापौरुषिको भवानिति**। महापुरुषस्य सम्बन्धी महापौरुषिकः। महापुरुषो हि कीर्त्त्या। कीर्तिश्च गुणात्। तदीयत्वं च गुणास्वादनयोग्यतयैव। अन्यथा तादृशधर्मवतः सम्बन्धी न स्यात्। **भवानिति**। नाऽत्र तिरोहितमिव। एवं भगवद्गुणानामाधिक्यमुक्त्वा तेषां फलमाह—**यस्येति**। यस्याऽऽख्यानस्य सम्बन्धिनी या श्रद्धा तद्युक्तानां मोक्षदातरि स्वानन्ददायके सती पतिव्रतारूपा तदेकरसास्वादिनी मतिर्भवति ॥ १० ॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

वह प्रकट ब्रह्मानन्दरसरूप कीर्तनरस की चाहना रखने वाला मैं, वैसे ही तुम्हारे आगे कहूंगा। अथवा उस रस को तुम्हारे हृदय में भर कर फिर मैं उस का पान करूंगा। जो शब्दरस एक बार पी लिया उस का पुनः रसास्वाद, उसे अन्यत्र स्थापन करके ही हो सकता है। यह गजों में पाया जाता है। अभितः पान अर्थात् हृदय को उस रस से सींचना। द्वैपायनपद से भी यह तात्पर्य निकल रहा है। दोनों तरफ जिस के रस (जल) हो वह द्वीप, और वहाँ होने वाला द्वैपायन। तात्पर्य यह है कि अन्तः और बाहर दोनों तरह से भगवद्रस का ग्रहण करने वाला। अर्थात् अन्तःस्थ बहिःस्थ भगवद्गुणों का पानकर्ता। भगवान् ने जो

प्रकट किया वह सूक्ष्म भागवत अन्तःस्थ गुणों का, और ब्रह्माने प्रकट किया वह बहिःस्थ गुणों का सूक्ष्म भागवत। उन दोनों को अन्तः प्रवेश कर फिर भगवद्गुणोंको बाहर मैंने प्रकट किये। इसी लिये भगवद्गुणों का स्वरूप विचार करते समय उत्पत्ति और उपपत्ति के द्वारा दोनों का कथन है। जो यह बात न होती तो जिस भगवान् की समझ को ब्रह्मा अनुभव कर रहा है उस स्वगुणप्रकाशक भागवत का कथन भगवान् क्यों करते? और ब्रह्मा भी उसी को नारद से क्यों कहते? इस से स्पष्ट होता है कि उत्पत्ति में अन्तःप्रविष्ट भगवद्गुणों को फिर बाहर प्रकट किये हैं और उपपत्ति में भगवद्गुणों को भगवान् से भी अधिक करके कहा गया है। इस लिये उन दोनों को मैं तुम्हें कहूंगा।

यदि यहाँ यह प्रश्न हो कि इस के सुनने के लिये मैं ही अधिकारी क्यों समझागया तो उस के उत्तर में कहते हैं कि आप महापुरुषसम्बन्धी हो। अखण्डातिशयकीर्ति होने से भगवान् महापुरुष कहे जाते हैं। भगवान् की अलौकिक गुणों से कीर्ति है। और उन गुणों के आस्वादन करने की योग्यता तुम में है। इस लिये आप महापौरुषिक कहे गये हो। आप में वह धर्म प्रत्यक्ष है, यह सूचन करने के लिये 'भवान्' कहा। इस तरह भगवद् गुणों की श्रेष्ठता कह कर इस का फल कहते हैं—इस भगवद्गुणाख्यापक कथा में जिन्हें श्रद्धा भी है तो उनकी बुद्धि मोक्षदाता भगवान् में पतिव्रतारूपिणी अर्थात् भगवद्गुणैकास्वादिनी हो कर सर्वदा रहेगी ॥ १० ॥

एवं स्वरूपं फलं चोक्त्वा तत्र स्वमात्रविचारतां दूरीकर्तुं सर्वेषामेव विचारकाणां सम्मतिमाह—

इस तरह स्वरूप और फल का निरूपण करके अब यह कहते हैं कि इस तरह का विचार केवल मैं ही रखता हूं सो नहीं किन्तु प्रायः सब ही भगवद्विचारकों की यही सम्मति है:—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥ ११ ॥

मूलार्थः—हे राजन्! जिन्हे इस संसार से वैराग्य होने की चाहना है और जो सब तरह से निर्भय हो जाना चाहते हैं, उन योगियों के लिये यह निर्णय किया जा चुका है कि वे भगवन्नाम गुणों का श्रवण कीर्तन किया करें ॥ ११ ॥

भावबोधिनी ।

एतदिति । अत्र सर्वैरेवैतन्निर्णीतम् । एतत् भगवद्गुणानुकथनरूपम् । निर्विद्यमानानां विरक्तीच्छूनां विरक्तिं वाऽभ्यसताम् । अकुतोभयं ब्रह्मानन्दमिच्छताम् । तदर्थं योगादिकं च कुर्वताम् । एतन्निर्णीतं यद्धरेर्नामामानुकीर्त्तनम् । तैर्वा तेषामर्थे

वा। प्रथमतो विरक्ता ब्रह्मानन्दप्रेप्सवस्तद्रसञ्च योगेनानुऽभवन्तस्तादृशं रसं तत्राऽननुभूय तत्प्रकटस्थानं भगवन्नाम। हरित्वात्पूर्वक्लेशं दूरीकुर्वन्नेव तद्रसं पाययतीति। तन्नाम्नां पूर्वोक्तप्रकारेण तद्रसाभिव्यक्तियुक्तानां प्रथमं पानं कृत्वा पश्चादनुकीर्त्तनं कर्त्तव्यमिति शास्त्रार्थनिर्द्धारः। अतो भवानहं च महारसे पतिताविस्युभयोरुत्तमाधिकारिणोः परमोत्साहः सूचितः॥ ११॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

जो लोग संसार से विरक्त रहना चाहते हैं अथवा वैराग्य होने का अभ्यास करने भी लगे हैं तथा ब्रह्मानन्द प्राप्त होने की इच्छा रखते हैं, और उसी के लिये योगादि उपाय करते भी हैं उन लोगों ने अथवा उन लोगों के लिये सब ने मिलकर यह निर्णय किया है कि वे लोग भगवद्गुणों का अनुकीर्तन करैं। पहिले वैराग्यवान् हों, ब्रह्मानन्द लेने की इच्छा हो और योग से अनुभव भी लेते हों। पर वहाँ वैसा रस न होने से वैसे रस का प्रकट स्थान भगवन्नाम लीला है इसलिये इसी का अनुकथन सब ने करना चाहिये। 'हरि' कहने का यह तात्पर्य है कि पहिले सब क्लेशों को दूर करते रह कर ही स्वगुणानन्द का पान कराता है। 'अनुकीर्तन' का यह अर्थ है कि पूर्वोक्त प्रकार से पहले ब्रह्मानन्द को स्पष्ट प्रकट करने वाली भगवन्नाम लीला का पान करके फिर योग्य अधिकारी के आगे उस का कीर्तन करना। यह सब शास्त्र के अर्थ का निर्धार है। हम तुम दोनों इस रस के मध्य पतित हैं यों कहकर उत्तमाधिकारियों के हृदय का परम उत्साह दिखाया है॥ ११॥

एवं गुणकथनश्रवणरसं श्रुत्वा स्वस्य शापेन शीघ्रमरणमनुस्मृत्य तादृशरसास्वादनाभावाद्विषीदन्तं राजानं प्रत्याह—

गुण-कथन श्रवणरस का इस तरह का निरूपण सुनकर और शाप के कारण अपना शीघ्र-मरण स्मरण कर यह रसास्वाद मुझे मिल सकैगा कि नहीं, यों मन मे दुःखी होते राजा से श्रीशुकब्रह्म कहते हैं कि—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥ १२॥

मूलार्थः—इस जगत् में जिस मनुष्य की बेसमझी में ही बहुत से वर्ष भी आयु के मिल जांय तो भी क्या फल। समझ का तो एक मुहूर्त्त भी श्रेष्ठ है जिसके द्वारा मनुष्य अपना कल्याण कर सकै॥ १२॥

किं प्रमत्तस्येति साधनीभूतमायुर्नाऽस्तीति विषादो न कर्त्तव्यः। यथा साकाङ्क्षस्याऽधिकारिणो रसाभिव्यक्तिस्तथा जीवनेयत्तापरिज्ञानरहितस्याऽनधिकारिणो नाऽभिव्यक्तिः। अतो जीवनेयत्ताज्ञापकः शाप उत्तम एव। अल्पता चोत्तमा उत्तरावधेर्नैकट्यात्। आस्वाद्य परमरसं तस्मिन् रसे प्रवेशाच्च पश्चात्तापः। अतः प्रमत्तस्य स्वार्थेऽनवहितस्य बहुभिरपि हायनैर्वर्षैरज्ञातैर्न किञ्चित्फलम्। ज्ञातं तु मुहूर्त्तमपि वरं पुरुषार्थसाधकम्। यतो ज्ञानात्तेनाऽपि क्षणेन पुरुषार्थसाधनाय घटेत॥ १२॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

भगवद्‌गुण श्रवण करने का साधन आयुष्य, अब मेरे पास नहीं है यह दुःख तुम अपने मन में न रक्खो। जिसे अपने जीवन काल का इतना पन नहीं मालुम उस अधिकारी को भगवद्‌गुणों के रसकी उतनी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती जितनी कि मरणावधि के जान लेवे से भगवद्‌गुणों के श्रवण में उतावला हो रहा है उस अधिकारी को होती है। इस लिये जीवन का इतनापन दिखा देने वाला शाप तो तुम्हारे लिये अच्छा ही हुआ है। और समय का थोडापन भी उत्तम है, क्यों कि मरणावधि निकट है। परम रस का आस्वाद करके जब उस रस में प्रवेश होगा तब किसी तरह का पश्चात्ताप नहीं रहैगा। इस लिये जो अपने असल स्वार्थ में असावधान है उसकी आयु के बहुत से वर्ष भी बेखबरी में निकल जाँय तो फल क्या? किन्तु जानकारी का तो एक क्षण भी बहुत है। क्यों कि जानने पर तो एक क्षण मे भी अपना पुरुषार्थ पूरा कर सकता है ॥ १२ ॥

अतः शत्रूणामायुरिवाऽज्ञातं स्वायुर्न प्रयोजनकं किन्तु ज्ञातमेवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—

इस लिये शत्रुओं की आयुष्य न जानी हो, इस तरह अपनी आयुष्य भी न जानी जाय तो अपने श्रेय का मार्ग सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु अपनी आयु तो जानना ही चाहिये यह कहते हैं:—

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहाऽऽयुषः।
मुहूर्त्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥ १३ ॥

मूलार्थः—खट्वाङ्ग राजा ने अपनी अवधि जब जान ली तब एक घण्टे में ही सब राज पाट कुटुम्ब आदि का परित्याग कर अकुतोभय भगवान् को प्राप्त कर लिया ॥ १३ ॥

सुबोधिनी।

खट्वाङ्गो नामेति। खट्वाङ्गनामा दिलीपो देवपक्षपाती भूत्वा दैत्यान् हत्वा देवैर्वरं गृहीत्युक्त आयुषः परिमाणं ज्ञात्वा तदनुसारेण वरं प्रार्थयिष्यामीति विचिन्त्याऽऽयुःपरिमाणं पृष्टवान्। ततस्तद्वचनान्मुहूर्त्तमात्रं ज्ञात्वा भूमौ समागत्याऽग्रे पालत्वेन हरेरुक्तत्वात्तदतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य अभयरूपं हरिं स्मरणेन गतः सन् तं प्राप्तवानित्यर्थः। तस्मात्कालभूयस्त्वं नाऽपेक्षत इति भावः ॥ १३ ॥

भवबोधिनी।

पहिले समय में दिलीप जिनका दूसरा नाम था ऐसे खट्वाङ्ग राजा हुए। उन्होने देवताओं के पक्ष में रह कर दैत्यों को मारा। देवों ने प्रसन्न हो कर जब वरदान मांगने के लिये कहा तो राजाने 'आयुको समझ कर वर मांगना उचित है' यों समझ कर अपनी आयुष्य कितनी है यह देवों से पूछा। देवों ने कहा कि तुह्मारी आयुष्य यहां के हिसाब से एक मुहुर्त की है।

राजा यह जान कर स्वर्ग से भूतल पर आये। भगवान् ने पहिले इन की रक्षा का स्वीकार किया था इस लिये श्रीहरि के सिवाय सब संसारी पदार्थों का परित्याग करके सर्वदा अभयरूप श्रीहरि का ही स्मरण करते रह कर श्रीहरि को ही प्राप्त हुए। इससे स्पष्ट होता है कि प्रभु को प्रसन्न करने के लिये किंवा उसकी प्राप्ति करने के लिये बहुतसा काल चाहिये ही ऐसा कोई नियम नहीं है ॥ १३ ॥

तव तु मुहूर्त्तानां शतद्वयमधिकं चाऽस्ति। एकेनाऽपि मुहूर्त्तेन कार्यं सेत्स्यति। तथापि पूर्वमस्माभिरुक्तं श्रवणं यावद्दशविधलीलायुक्तभगवद्विषयकमुपकल्पयेत्याह—

तुह्मारा तो अभी दो सो मुहुर्तों से अधिक आयु वर्तमान है, एक मुहुर्त में भी काम बन आता है। इस लिये जो हम पहले कह चुके हैं कि दसविधलीलायुक्त सम्पूर्ण भगवान् के श्रवण की तयारी करो। यह कहते हैं—

तवाऽप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥ १४ ॥

मूलार्थः—हे कुरुवंशोत्पन्न! तुह्मारे जीवन की अवधि अभी तो सात दिन की है। तुम भी जो अन्त काल में कर्त्तव्ययोग्य हो सो सब कुछ कर लो ॥ १४ ॥

सुबोधिनी।

तवाऽपीति। यथा तस्य ज्ञातमायुरेवं तवाऽपीति। एतर्हि इदानीमपि। जीवितावधिः सप्ताहम्। सप्तदिनमात्रं जीवितस्यावधिः। अतस्तावत्पर्यन्तं सर्वमेव परलोकसाधनमुपकल्पय सम्पादय। सर्वं परित्यज्य भगवत्कथां शृणिवत्यर्थः। केचनाऽग्रे वक्ष्यमाणमाहुः। तत्प्रमेयविरोधादुपेक्ष्यम् ॥ १४ ॥

भावबोधिनी।

जैसे राजा दिलीप की आयु जान ली गई थी ऐसे तुह्मारी जान ली गई है। अभी तक आपका जीवन समय सात दिन का बाकी है। इतने में अपने परलोक के सब कुछ साधन तयार करलो। तात्पर्य यह है कि अन्य सब साधनो को छोड कर केवल भगवान् के चरित्रों का श्रवण करो। कितने ही टीका करने वाले आगे जो मरण सामयिक अनुष्ठान कहा गया है उसीका अनुष्ठान करना राजा के लिये भी श्रेयस्कर समझते हैं पर वह प्रमेय विरोध होने से कुछ है नहीं। भगवान् और भगवान् की दशविधलीलाओं का श्रवण करना यह भागवत का प्रमेय है इस के सिवाय जो कुछ अनुष्ठेय है वह सब राजा के लिये कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

एवं सपरिकरं प्रथमप्रश्नोत्तरमुक्तं सर्वात्मना किं कर्त्तव्यमित्यस्य। "**अन्ते नारायणस्मृतिरि**" ति च "**गतवानभयं हरिमि**" ति च वाक्याभ्यां "**सर्वमुकल्पये**" त्यनेन चाऽन्तकालकर्त्तव्यमुपदिष्टमेव। सर्वात्मना

सर्वसमये तदेव कर्त्तव्यं यतः । तथापि राज्ञश्चेद्धृदये तस्योत्तरं देयमित्यकाङ्क्षा स्यात्तदाऽस्माभिरुच्यमानं श्रवणं न सम्यग्हृदये भासेतेति विशेषेणाऽन्तकालकर्त्तव्यं वदन् पूर्वोक्तस्य श्रवणस्य फलोपकार्युत्तराङ्गे मनननिदिध्यासने निरूपयति—

राजा ने जो पूछा था कि सर्वात्मना क्या कर्तव्य है उसका सपरिकर उत्तर पूर्वोक्त प्रकार से दे दिया। और अन्तकालिक कर्त्तव्य भी 'अन्तेनारायस्मृतिः' 'गतवानभयं हरिम्' 'सर्वमुपकल्पय' इत्यादि वाक्यों से कह ही दिया। अन्तकाल में क्या और सर्वदा सर्व-समय में भी क्या यही तो सब कुछ कर्त्तव्य है। इस लिये अन्तकालिक कर्त्तव्य भी सर्वात्मना कर्त्तव्य में ही आ जाता है। तथापि राजा के हृदय में यदि यह समा जाय कि मरण सयम कर्त्तव्य के प्रश्न का उत्तर भी देते तो ठीक रहता। तौ फिर जो हम सिद्धान्तविषय कह रहे हैं उस तरफ़ भी इस की दृष्टि जमने नहीं पावेगी। इस लिये दूसरे प्रश्न का भी उत्तर दे देना चाहिये। और भगवत्स्वरूप लीला श्रवण में चित्त की एकाग्रता (ध्यान) भी अङ्ग है इस लिये चित्तैकाग्र्यरूप अंग से मरणकालिक कर्त्तव्य भी कह देना उचित है यों समझ कर श्रीशुकदेवजी श्रवण फलोपकारक उत्तराङ्ग मनन और निदिध्यासन का निरूपण करते हैं:—

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥ १५ ॥
गृहात्प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥ १६ ॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमनुस्मरन् ॥ १७ ॥

मूलार्थः—पुरुष को जब यह मालूम हो कि मेरा अन्तकाल आ गया तब उसे चाहिये कि सब से पहिले तो किसी तरह भी घबरावै नहीं, और तदनन्तर वैराग्य शस्त्र के द्वारा देह और देह सम्बन्धियों में जो स्पृहा और आसक्ति हो उसे काट डाले। घर से सन्यास लेकर धीरता पूर्वक तीर्थों में जाकर गंगायमुनादिक के पवित्र जलमें स्नान करै एकान्त में पवित्र और शास्त्रोंने बताये आसन में स्थित रह कर मन से, पवित्र सर्व श्रेष्ठ ओंकाररूप ब्रह्माक्षर मन्त्र का अभ्यास करता रहै। और श्वास को जीत कर मन को वश में करै, पर ब्रह्मबीज (ओङ्कार) का स्मरण भी न भुलावै ॥ १५-१६ १७ ॥

सुबोधिनी ।

अन्तकाल इति । मननं नाम युक्तिभिरनुचिन्तनम् । तत्र भगवाञ्छ्रोतव्य इत्युक्तम् । तत्र को भगवानित्याकाङ्क्षायां सर्वात्मेत्यादिपदैः सर्वपुरुषार्थरूपः सर्वफलसाधकः सर्वमेव भगवानित्युक्तं भवति । तत्र कथं सर्वं भगवानित्याकाङ्क्षायां "आत्मैवेदं सर्वम्" "अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः" इति वाक्यानां प्रमाणानां विद्यमानत्वेऽपि लौकिकयुक्त्यपेक्षायां

सर्वस्याऽपि जगतो भगवच्छरीरे सन्निवेश उच्यते । पुरुषश्च भगवानित्यविवादम् । "**पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयते**" ति श्रुतेः । "**पुरुष एवेदꣳसर्वमि**" ति च । तत्र सर्वस्याऽपि यावत् पुरुषशरीरे निवेशनं न क्रियते तावत् सर्वत्वं पुरुषस्य न मन्येत । अतः पुरुषशरीरे निवेशनं कथयति । किञ्च । पुरुषस्य शरीरे सर्वं वचनेन निवेशितमपि यद्यनुभवेन विसंवादि स्यात्तदापि न मन्येत । अतस्तद्ध्यानरूपेण वदति । ध्यायमानस्य कदाचित्साक्षात्कारो भवेत्तदा तस्य शरीरे सर्वं पश्यन्निःसन्दिग्धो भवेदिति मननं निदिध्यासनावधि साक्षात्कारफलकं तत्त्वनिरूपणार्थमुपदिशन् "**पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय**" इति न्यायेन को वेदाऽन्तकाले स्मरणे क्रियमाणे व्यासङ्गान्तरमपि भवेत्तदा तदेव भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं चित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं वदन् तदङ्गभूतध्यानविषयत्वेन भगवत्स्वरूपमपि वदन्नन्तकालकर्त्तव्यप्रश्नोत्तरमप्याह । **तुशब्दस्त्वे-** तत्कर्त्तव्यमिति पक्षं व्यावर्त्तयति । पूर्वपक्षसंगतमेव किञ्चिदुच्यत इति वा पक्षं व्यावर्त्तयति । अन्तकालो मरणकालः । कालस्याऽन्तो वयोरूपस्य । राजदन्तादिवत्परनिपातः । अन्तकस्य वा कालः । समागत इति ज्ञाते प्रथमसाधनं गतसाध्वस इति तदर्थं पूर्वोक्तं कर्त्तव्यम् । तदनु असङ्गशस्त्रेण वैराग्यशस्त्रेण देहे तमनु ये देहानुवर्त्तिनो गृहादयस्तेषु च स्पृहामभिलाषं ममैते भवन्तु तत्कृतोपकारो वेति छिन्द्यात् अन्तःकरणे तेषामपेक्षां त्यजेत् । इदं द्वितीयम् । ततो गृहात्प्रव्रजेत् । संन्यासं गृहीत्वा गच्छेत् । तृतीयम् । ततः शीतादिबाधायां धैर्यं चतुर्थम् । एते यमा उक्ताः । नियममाह—**पुण्यतीर्थजलाप्लुत इति ।** पुण्यं जलमुद्धृतमपि भवतीति तीर्थपदम् । पुण्यपदेन काम्यतीर्थपरित्यागः । पुण्यरूपं तीर्थं गङ्गा वा । तीर्थपदेन घट्टो वा । "**तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन्नि**" ति श्रुतेः । आप्लुतः सम्यक् स्नातः । आसनमाह । शुचौ पवित्रे । विविक्त एकान्ते । विधिवत् चैलाजिनकुशोत्तरप्रकारेण कल्पिते आसने आसीनः । अभ्यसेदिति सम्बन्धः । प्राणायाममाह—**अभ्यसे-दिति** । सबीजप्राणायामे शीघ्रं वायुः स्थिरो भवति । पापेन च वायोश्चलनम् । अतस्त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं आकारोकारमकारैर्वृतं सङ्घट्टितं वर्णत्रयात्मकमेकं ब्रह्मवाचकं निर्विघ्नार्थं मङ्गलरूपञ्च । परम् । परापश्यन्तीमध्यमावैखरीप्रकारेषु प्रथमम् । अवर्णात्मकं वा । तदभ्य-सेत् । तेन वायुजयो भवति । ततः प्रत्याहारमाह—**मनो यच्छेदिति** । जितश्वासस्यैव मनोनियमनम् । श्वासजयश्च ब्रह्माक्षरेण । अतो ब्रह्मबीजमनुस्मरञ्जितश्वासो मनो यच्छेदिति सम्बन्धः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

किसी विषय का युक्तियों के द्वारा जो पुनः पुनः विचार उसको मनन कहते हैं । युक्ति विचार में श्रवण के साथ मनन की अपेक्षा रहती है । भगवान् को सुनना चाहिये यह तो पहिले सिद्ध कर ही चुके हैं । उस पर यदि किसी की आकांक्षा होती हो कि भगवान् क्या पदार्थ है ? तो उसके उत्तर में पञ्चश्लोकोक्त सर्वात्मा भगवान् आदि पदों से अच्छी तरह समझा दिया गया है कि सर्व पुरुषार्थ रूप सर्व फल साधक और सर्व रूप हरि भगवान् हैं ।

उस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् ही सब कुछ है , सर्व रूप है यह बात कैसे समझी जाय ? तो इसके उत्तर में यद्यपि स्वतः प्रमाण 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेद सर्वम्' 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दन' इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है । और पुरुष शब्द का तत्त्वार्थ भगवान् ही है यह भी 'पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि वेद वाक्यों से ज्ञात है, तथापि किसी को लौकिक युक्ति के द्वारा समझना हो तो फिर जहां तक पुरुष रूप भगवान् के श्रीअंग में इस सारे जगत् का समावेश न किया जाय, वहाँ तक पुरुष ही सब कुछ होगया है यह कैसे समझ में आवै । इस लिये आगे ध्यानधारणा के प्रसंग में पुरुष (भगवान्) के श्रीअंग में सब का समावेश कहते हैं ।

केवल वचनों के द्वारा सर्वजगत पुरुष के शरीर में समावेश कर भी दिया और जो वह अनुभव में न बैठे तो कैसे माना जाय, इसलिये उसको ध्यान रूप से कहते हैं । यद्यपि ध्यान प्रारम्भ में परोक्ष रूप होता है । तथापि ध्यान करते करते कदाचित् साक्षात्कार हो जाय और उस समय भगवान् के श्रीअंग में सारे जगत् को देख ले तो सन्देह जाता रहेगा इस लिये तत्वनिरूपण के लिये निदिध्यासन पर्यन्त मनन का उपदेश कर रहे हैं ।

'**पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः**' इस न्याय से कदाचित् मरण समय में ध्यान करते समय कभी अन्य पदार्थों के तरफ भी ध्यान चला जाय तो वही होना पडे अत एव उस दोष को भी दूर करने के लिये चित्तवृत्ति रुकै ऐसा योगाभ्यास बताते हुए तदङ्गरूप-ध्यान का विषय भगवद्रूप भी कह रहे हैं और साथ में अन्त काल का कर्त्तव्य भी समझा रहे हैं । तु शब्द से यह सूचना है कि यह कर्त्तव्य तुम अपना मत समझ लेना । अथवा यह सब कुछ कहा जा रहा है वह पूर्वपक्षरूप में न समझ लैना चाहिये, यह भी 'तु' शब्द का अर्थ है । यहाँ अन्तकाल से मरणकाल किं वा मरण के पूर्व की छेली आयुष्य लैना । राज-दन्तादिवत् कालस्यान्तः अन्तकालः ऐसा परनिपात है । अथवा यम मृत्यु का समय, अर्थ कर लेना ।

'आगते' का अर्थ 'ज्ञाते' समझना । अर्थात् किसी तरह से भी जब यह समझ ले कि मेरा मरण समय निकट आगया है तब सब से पहिले साधन तो यह है कि घबरावे नहीं । गति सुधारने के लिये यह पहिला कर्त्तव्य है । उसके बाद वैराग्यशस्त्र के द्वारा देह के साथ लगे हुए स्त्री पुत्र गृहादि पदार्थों की स्पृहा (चाहना) (ये मुझे चाहिये इन का उपकार मुझ पर है इत्यादि) को काट दे, अन्तः करण में से उनकी अपेक्षा निकाल दे । यह दूसरा साधन है । फिर संन्यास लैकर घर से चल दे; यह तीसरा । फिर वहाँ वनादि में शीतवातादि के समय धैर्य रक्खे यह चौथा कर्त्तव्य है । ये यम हैं ।

अब नियम भी कहते हैं, पवित्र गंगादि तीर्थों में अवगाहन करके स्नान किया करै । वहाँ से घर में जल लाकर स्नान करै इस का निषेध करने के लिये तीर्थ (प्रवाह) पद कहा है । स्नान काम्य भी होता है उसका निषेध करने के लिये पुण्य शब्द कहा । ये सब बाते पहिले से जिसने समझ रक्खी हों उसके लिये पवित्र गंगादिका तीर्थ घाट, अर्थ समझना । इसमें 'तीर्थं हि' आदि श्रुति प्रमाण हैं । 'आप्लुतः' का अच्छी तरह स्नान अर्थ है । अब आसन कहते हैं—पवित्र और एकान्त में पहले कुश, उस पर मृगादिचर्म, और फिर उसपर कपडा बिछा कर विधि पूर्वक बनाये आसन पर बैठे । फिर प्राणों को रोकने या उनको श्रम देने का यह उपाय है कि प्रणवरूप बीज का मन में उच्चारण करते रहते पूरक, कुंभक, रेचक,

के अनुसार प्राणायाम किया जाय तो वायु थोडे समय में ही स्थिर हो जाता है। पापों से वायु अनुचित स्थानों में जाता है वह ओंकार रूप ब्रह्माक्षर के जप से दूर हो जाता है। अकार उकार मकार (और नाद) से बना हुआ यह ब्रह्मवाचक प्रणव विघ्न दूर करने वाला और मंगल स्वरूप है। परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी, इन चारों वाणीरूपों में से पहला रूप रक्खै। अथवा जिसमें वर्णों का उच्चारण न होने पावे इस तरह केवल मानसिक रूप से जप का अभ्यास करै। इस प्राणायाम प्रकार से जिसने श्वास वायु को अपने वश में कर लिया है वह मनको जीते। श्वास का जय ब्रह्माक्षर से होता है, और जितश्वास का ही मन वश में रहता है। यह प्रत्याहार है। मनकी सहस्रशः वृत्तियाँ जो बाहर जाती रहती हैं उन्हें धीरे धीरे पीछी लौटा कर मन से बाहर न होने देना, भगवान् में लगाते रहना प्रत्याहार कहा जाता है। यह बात अभ्यास पूरा पूरा करने से होती है॥ १५　१६॥ १७॥

प्रत्याहारे मनसश्चेन्द्रियाणामन्योन्यहेतुमद्भावेन भेदं निरूपयति—

प्रत्याहार करने में मनोजय और इन्द्रियजय को परस्पर कार्य कारणता है, यह बात दिखाते हुए दोनों का जय भिन्न भिन्न है यह कहते हैं—

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥ १८॥

मूलार्थः—पहले जो बुद्धिका सहारा लेकर मनके द्वारा इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकता रहै। और फिर कर्मों से बिखरे हुए मनको पवित्र और मङ्गलमय भगवान् की मूर्ति में एकाग्र बुद्धि के द्वारा स्थिर कर देवै॥ १८॥

सुबोधिनी।

नियच्छेदिति। मनसा इन्द्रियाणि विषयेभ्यो नियच्छेत्। विषयाणां दुष्टत्वबुद्धिर्मनसेन्द्रियनियमने सारथिः सहायः। पूर्वं मनसः क्रिया निवारिता प्राणायामेन। अधुना कर्मभिराक्षिप्तं प्रत्याहाररूपैः कर्मभिराक्षिप्तं। आ समन्ताद्विषयेभ्यो दूरीभूतम्। विषयज्ञानाननुकूलमिति यावत्। तादृशं मनः शुभरूपे अर्थे धिया सर्वावयवव्यापिकया बुद्ध्या मानसीं मूर्तिं परिकल्प्य तत्र सर्वावयवस्थितं मनो धारणारूपं कुर्यात्। सर्वावयवे मनसः स्थापनं धारणा। एकावयवे मनोधारणं ध्यानमिति भेदः॥१८॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

विषयों में जाते इन्द्रियों को मनके द्वारा रोकै। सब विषय, दोष वाले खराब हैं, यह समझ मन के द्वारा इन्द्रियों को रोकने में सहाय पहुँचाती है इस लिये उसे (बुद्धिका) सारथी कहा है। पहिले श्लोकों में सहाय प्राणायामादि से मन की चंचलता दूर की और अब प्रत्याहारों से मन को छोटा करते करते विषयों से एक दम दूर कर दिया। अब मन विषयज्ञान के अनुकूल नहीं रहा। इस के अनन्तर परम मङ्गलमय पदार्थ श्रीहरि के स्वरूप (मूर्ति) में मन को, सर्व श्रीअङ्गों में व्यापक बुद्धि (समझ) के द्वारा धरै। समझ समझ कर सारे अव-

यवों में मन को पहुँचादे । इसको धारणा कहते हैं । और एक अवयव में समभ पूर्वक मन का ठहराना ध्यान कहा जाता है ।। १८ ।

ध्यानमाह—

अब ध्यान का स्वरूप बताते हैं:—

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चिन्न संस्मरेत् ॥ १९ ॥

मूलार्थः—उस भगवन्मूर्ति के एक एक अवयव का ध्यान करै । पर मनसे देखे अवयवों को साथ मिलाते हुए । फिर इस वृत्ति का भी परित्याग करदे । और मनको निर्विषय बनाले, कुछभी चिन्तन न करै ॥ १९ ॥

सुबोधिनी ।

तत्रैकावयवमिति । तत्र मनोगृहीतमूर्त्तविकमवयवं ध्यायेत् । अव्युच्छिन्नेन पूर्वध्यातावयवसंश्लिष्टेन । अनेन खण्डशो ध्यानं निवारितम् । एकमप्यवयवमितरावयवैर्यथायोग्यं संश्लिष्टमेव ध्यायेत् । एवं ध्याने क्रियमाणे यदा मनो विषयवासनां त्यजति तदा इममपि विषयं त्याजयित्वा सर्वथा निर्विषयं युक्त्वा योगसहितं कृत्वा । सर्ववृत्तिनिरोधं कृत्वेत्यर्थः । ततः किमपि न संस्मरेत् । योगसाधितप्रयत्नेन चित्तं निरुद्ध्य तिष्ठेत् ॥ १९ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

मनकी पकड में आये हुए भगवत्स्वरूप (मूर्ति) में से एक अवयव का ध्यान करै। किन्तु खण्डशः अलग अलग श्रीअंगों का ध्यान न करै । अपितु पूर्व में ध्यान में आये हुए श्रीअंग को मिला कर ही आगे के श्रीअंग का ध्यान करै । ध्यान एक का ही हो पर यथा योग्य अन्य अंगो से मिले हुए का ही हो। इस तरह शुभार्थ का ध्यान करते करते जब मन विषयों की वासना तक का परित्याग करदे तब इस मूर्तरूप विषय को भी छोड़ दे और मनको निर्विषय बनाले, सब मनोवृत्तियों का निरोध कर ले । और कुछभी पदार्थ का स्मरण न रहै, मनको ऐसा करले । इसे ही चित्तवृत्तिनिरोधरूप ' योग ' कहते हैं ॥ १९ ॥

ततो यद्भवति तदाह—

इस के आगे क्या होता है । सो कहते हैं:—

पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ।
रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥ २० ॥

मूलार्थः—यह निर्विषयवृत्तिक हो जाना, मन का निर्विषय हो जाना है । बस इसी के

आधार का नाम विष्णुपद है । जहां पहुँचकर मन निर्मल होजाता है । इस लिये पुरुष को चाहिये, रजो गुण से बिखरे हुए और तमोगुण से बे भान हुए अपने मनको धैर्यपूर्वक पूर्वोक्त वैष्णवीधारणाके द्वारा एक दम एकाग्र करले । जिस से गुणकृतमैल नष्ट हो जाता है ॥२०॥

सुबोधिनी ।

पदमिति । एवं चित्तनिरोधे क्रियमाणे तच्चित्तं स्वयमेव प्रसीदति । ध्यानाकारेण परिणमति । तस्य परिणामस्य य आधारस्तद्विष्णोः परमं पदम् । अन्यथा स्थलान्तरे निरूद्धं तदभिव्यक्तिं कुर्याद्विषीदेद्वा । अतो यत्र निरुद्धं प्रसीदति तदाधारसामर्थ्यादेव प्रसीदति। प्रसादाधारो भगवत्पदमेव । चित्तप्रसादे यत्प्रकाशते तज्जीवात्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य स्थानम् । "तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रुतेर्वह्निशिखात्वेनाऽप्युच्यमाना जीवकलैव । अथवा । अक्षरस्य भगवत्पदत्वात्तदंशो जीवोऽपि भगवत्पदम् । एवं यावत्कालं प्रसन्नं मनस्तिष्ठति तावत्तथैव स्थातव्यम् । "रजः सत्त्वं तमश्चैवे" ति न्यायेन कारणीभूतं रजस्तमो वा कालप्रेरितं सत् मनो विक्षिपति विमूढं वा करोति । तदा योगबलेनाऽन्येषामपि मनांसि भगवत्पदे भासन्ते । सर्वेषां जीवानां तत्रैकीभावात् । तत्राऽन्यमनोविक्षेपे न किञ्चित्कुर्यात् । यदा त्वात्मनो मनः कर्मणि क्षिपेद्रजो मूढं वा कुर्यात्तमस्तदा तद्दोषपरिहारार्थं पुनर्धारणया मनो यच्छेत् । तत्र नियमनसमये वासनया रजो विषयाननुपस्थापयति । तमश्च निद्रादिकम् । तत्रोभयत्राऽपि धीरो भवेत् । तादृशी च धारणा कर्त्तव्या यया रजोदोषस्तमोदोषश्च दूरीक्रियते । चण्डिकाशिवादिधारणाव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्—**हन्ति या तत्कृतं मलमिति** ॥ २० ॥

भामबोधिनी भाषा टीका ।

इस तरह चित्त का निरोध करलेने से वह चित स्वयमेव निर्मल हो जाता है । जिस स्थान पर प्रथम ही प्रथम भगवदंश चेतन का बिम्ब प्रकाशित होता है वह चित्त है । उसके समल होने से अपनपा समल दीखता है । जो स्वरूप ध्यान का विषय है । वह निर्मल है अतएव चित्त भी निर्मल होजाता है । अत एव उसके स्थगित होजाने पर भी मन तदाकार रह जाता है । स्वरूपात्मक फल की प्राप्ति तात्कालिक होती है । इस फल का जो आधार है वह भगवान् विष्णु का श्रेष्ठ स्थान है । उसकी पहचान यही है कि यदि अन्याधार पर मन रुका होता तो उस पदार्थ की अभिव्यक्ति (स्पष्टता) करता या घबराजाता एकाग्र न होता। यह जो निरुद्ध होकर निर्मल होगया है यह आधार (विष्णु पद) की ही महिमा है । चित्त के निर्मल होजाने पर उस में जो कुछ प्रकाशित होता है वह जीववाच्यचेतन का शुद्धस्वरूप है और पुरुषोत्तम का स्थान है । 'तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इस श्रुति में वह्निशिखा के रूप में जिसे कहा है वह जीवका ही एक अंश है ।

अथवा अक्षरब्रह्म ही भगवान् का पद (मन्दिर) है इसलिये अक्षरांशजीवभी भगवान् का स्थान कहागया सो ठीक ही है । इस तरह जितने समय तक मन निर्मल रहा आवै वहां तक उसी तरह स्थित रहना उचित है, चित्त की परीक्षा करै । कहने का तात्पर्य यह है कि 'रजः सत्त्वं तमश्चैव' इत्यादिवाक्यों के अनुसार साधारणतया कालप्रेरणा से सब के ही मन को रज और तम विक्षिप्त (चलायमान) और विमूढ (बेसमझ) करते रहते हैं । यहां साधक को जो योगबल प्राप्त हुवा है, उस से अन्य जीवों के मनों की दशाभी वहां प्रकाशित

रहती है । क्यों कि अब वह जीव नहीं रहा । शुद्धता प्राप्त होने से वह अंश न रहकर अंशी भगवत्पद (अक्षरब्रह्म) हो गया है । इस लिये भगवत्पद में अनेक जीव एकीभूत दिखाई देते हैं । ऐसी अवस्था में यदि अन्य किसी के मन को विक्षेप या मूढता होरही हो तो अपने कुछ न करै, उसी तरह रहा आवै । और यदि अपने ही मन को जो रजोगुण, कर्मों में फेंकना चाहे किं वा तमोगुण मूढ बनाना चाहे तो उन दोषों को दूर करने के लिये फिरसे मन को धारणा के द्वारा रोकै । मन को रोकते समय तयार हुई वासना से रजोगुण, विषयों की उपस्थिति करता है और तमोगुण निद्रादि लाता है, उस समय धीर रहे उन सब उप द्रवों को सहनकरता हुआ धारणा किया करै । धारणा भी ऐसी करता रहै जो मैल को काटने में समर्थ हो । चण्डिका रुद्रादि की धारणा न करै ॥ २० ॥

किञ्च । तादृशी धारणा कर्त्तव्या यया धारणया योगः सिद्ध्येत् । सन्ति च बहवो योगाश्चित्तनिरोधकाः कर्मादयः तत्रापि भक्तिलक्षणो योगो यया सम्पद्यते तां धारणां कुर्यादित्याह—

चित्तवृत्ति को रोकने वाले कर्मादिक अनेक उपाय हैं पर ऐसे उपायों का ग्रहण करै जिस से चित्तका वास्तविक निरोध हो सकै । उसमें भी जिस धारणा के द्वारा भक्ति स्वरूप योग-सिद्ध होवै वैसी धारणा करै, यह कहते हैं—

यत्र सन्धार्य्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः ।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥ २१ ॥

मूलार्थः—जिस पवित्र धारणा में साधक योगी को पवित्र मंगल मय भगवान् के दर्शन करते करते भक्तिस्वरूप योग जल्दी ही सिद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

सुबोधिनी ।

यत्रेति । यत्रविषये सर्वावयवसंस्थितायां चित्तवृत्त्यां सत्याम् । योगिनश्चित्तनिरोधकस्य । भक्तिरेव लक्षणं यस्य गो;सास्नादिवत्कदाऽपि भक्तिर्न व्यभिचरति, भक्त्यैव च तत्प्रसिद्धिस्तादृशो योगः सम्पद्यते । ननु योगस्य कस्माद्भक्तिलक्षणत्वम् ? तत्राऽऽह—**आश्रयं भद्रमीक्षत इति** । भद्रं मनोहरम् । आश्रयं धारणायाः । भगवद्रूपमिति यावत् । तदीक्षतस्तद्ध्यायतः। भगवद्ध्याने भक्तिलक्षणो योगः सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

चित्तवृत्ति निरोध कर्ता योगी की चित्तवृत्ति अव्युच्छिन्न, अर्थात् जिस अपने हित अभीष्ट विषय में सर्वावयव व्यापिनी हो कर ठहरै, और इसी से भक्ति स्वरूप योग प्राप्त हो जाय, तब समझना चाहिये कि वास्तविक योग प्राप्त हुआ । योग का मुख्य लक्षण भगवत्प्रेम ही है। जैसे गाय का गलकम्बल । यदि कोई पूछे कि योग भगवत्प्रेम को ही क्यों पैदा करता है, तो इस का उत्तर इतना ही है कि यह योगी कल्याण स्वरूप श्रीकृष्णरूप आश्रय का चिन्तवन करता है इस लिये । भगवान् के चिन्तन करते रहने से वह योग जल्दी सिद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

तत्र राजा विशेषं पृच्छति—

अब राजा धारणा के विषय में कुछ विशेष पूछता है:—

राजोवाच—

यथा सन्धार्य्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥ २२ ॥

मूलार्थः—हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार से धारणा की जाती है, जिसमें धारणा की जाती है। और जैसी धारणा पुरुष के मनोमल को जल्दी नाश करती है सो कहिये ॥ २२ ॥

सुबोधिनी।

यथेति। इयं धारणा कथं सन्धार्या। किं मानसीं मूर्तिं कृत्वा तत्र मनः स्थापनीयम्। आहोस्विच्छ्रुतां भगवन्मूर्तिं स्मृत्वा। किञ्च। यत्र सम्मता यस्यां मूर्तौ सम्मता। अनन्तमूर्तित्वाद्भगवतो यस्यामेव मूर्तौ सर्वेषामेव योगिनां सम्मतिरस्ति। किञ्च। यादृशी वा यादृक्प्रकारा। रूपप्राधान्येन धर्मप्राधान्येन वा। स्थूला सूक्ष्मा वा। निराकारा साकारा वा। शान्ता वा साग्रहा वा। तत्र यादृशी पुरुषस्य मनोमलं हन्ति तत्कथयेत्यर्थादुक्तं भवति। गुरोः सन्निधाने नियोगोऽनुचित इत्यभिप्रायबोधकवाक्यशेषमुक्त्वा नियोगांशं नोक्तवान् ॥ २२ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका।

यह धारणा किस तरह करनी चाहिये? क्या मनः कल्पित मूर्तिमें मन को स्थापन करै या शास्त्रों में सुनी हुई मूर्ति का स्मरण करके उसमें मन को ठहरावै। एक यह भी प्रश्न है कि कौनसी मूर्ति में धारणा करना प्रामाणिक है। भगवान् की अनन्त मूर्तियां हैं इस लिये जिस एक मूर्ति में सब योगियों की सम्मति होती हो उसी में मन को ठहराना उचित है या नहीं। और फिर किस प्रकारकी? रूप को प्रधान मान कर या भगवद्धर्मों को प्रधान मान कर। स्थूलधारणा, किं वा सूक्ष्मधारणा की जाय। निराकारा किं वा साकारा। शान्तरीति से किं वा आग्रह सहित। इस लिये मेरा आशय यह है कि पुरुष के मन की मलिनता को जो दूर कर सकै उस तरह की धारणा कही जाय। इस श्लोक में आज्ञावाचक (कथय) शब्द नहीं दिया गया है इस का तात्पर्य इतना ही है कि गुरु के सन्निधान में नियोग करना अनुचित है इस लिये नियोगांश न कहा ॥ २२ ॥

तत्रोत्तरमाह—

इस का उत्तर देते हैं:—

श्रीशुक उवाच—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।

स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥ २३ ॥

सुबोधिनी ।

जितासन इति । यादृशीत्यस्योत्तरम् । आसनादिजयसहिता सा मनोमलं हन्ति । **जितसङ्गः** । जितो विषयसंगो येन । अनेन मनोनियमनमुक्तम् । यत्रसम्मतेत्यस्योत्तरमाह—**स्थूल इति** । धिया निश्चयात्मिकया बुद्ध्या ॥ २३ ॥

(मूलार्थ और सुबोधिनी) धारणा के प्रकार के विषय में उत्तर देते हैं कि आसन जय, श्वास जय और इन्द्रिय जय करने वाले को निर्मल धारणा प्राप्त होती है । 'जितसङ्गः' का अर्थ है कि जिसने मन को वश में कर लिया है । किस विषय में मन को ठहरावै इस का उत्तर कहते हैं कि पूर्ण विश्वास वाली बुद्धि से भगवान् के स्थूल रूप में मन को ठहरावै ॥ २३ ॥

ननु भगवतः कथं स्थूलं रूपम् । व्यापकन्तु फलरूपं न धारणामर्हति । अन्यानि मत्स्यादिरूपाण्यनिर्द्धारितपरिमाणानि । अतः स्थूलं किमित्याकाङ्क्षायामाह—

यहां यह प्रश्न है कि भगवान् का स्थूलरूप कैसा ? व्यापक रूप तो धारणा के योग्य ही नहीं है । और मत्स्य आदि जो भगवद्रूप हैं उनका कोई नाप तौल निर्धारित ही नहीं किया गया है । फिर यह स्थूलरूप कौनसा है ? :—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥ २४ ॥

मूलार्थः—स्थूलों में भी स्थूल यह पृथ्वीरूप विशेष उस विराट् भगवान् का देह है । जिस भगवद्देह में, होगया सो, होने वाला है सो, और हो रहा है सो, सब ही विश्व देखने में आता है ।

श्रीसुबोधिनी ।

विशेषस्तस्य देहोऽयमिति । विशेषः पृथिवी । सर्वे विशेषास्तद्रूपा इति । "**अतो विशेष**" इति वाक्यात् । विः शेषः शिष्टो यत्रेति वा । वेः कालस्य शेषो वा । अत्रत्यानां स्वेच्छया कालग्रासात् । अत एव भगवतो देहो विशेषः । कालस्य भगवच्चेष्टात्वात्तदाधारो देहो भवत्येव । देहात्मनोः संयोगः सम्बन्ध इति साङ्ख्याः । तदेकदेशिनो योगिनश्चाऽध्यास इति । आवेश इत्यपरे । अग्न्ययोगोलकवत् । अहङ्कारेणाऽहमिति । स्वीकार इत्यपरे । ते चत्वारोऽपि पक्षा भगवतो देहस्य च सम्बन्धप्रतिपादका न भवन्ति । किन्तु स्वस्वामिसम्बन्ध इति षष्ठ्या सम्बोधयति—**तस्येति** । "**दिह उपचय**" इति धातोरच्प्रत्यये कृते देह इति भवति । भगवतोऽयमुपचय इत्यर्थः । स्वरूपस्थितेनैव यद्यपि सर्वं कर्त्तुं शक्यते तथापि सर्वेषां पोषार्थं स्वरूपादप्यधिकसुखदानार्थमुपचितः सन् पुष्टः सन् सर्वं करोतीति तदेव रूपं भगवतो धारणाविषयो भवतीति सर्वेषां सम्मतिः । अयमित्यपरोक्षविषयः । यद्यप्येकदेश एव तथा तथापि तेनेतरानुमानं ६ करमिति इतरावयवज्ञानसहकृता प्रत्यक्षसामग्र्येव विशिष्टज्ञानं जनयतीत्ययमित्युक्तम् । **स्थविष्ठश्च स्थवीयसामिति** । प्रथनात्पृथिवी स्थविष्ठा स्थूला वा । अत्र शास्त्रे विरलावयवाः सूक्ष्माः । संहतावयवाः स्थूलाः । अत एवाऽऽकाशादयः सूक्ष्मास्तथा व्यवहारागोचराः । पृथिवी तु सर्वव्यवहारगोचरा स्थूला । संहतैरुपचितैरवयवैर्भूतोऽवयवी प्रकटीक्रियते । तथा देहेनाऽपि भगवान्प्रकटीक्रियत इति ध्यानविषयतायां भगवानपि प्रकटो

भवतीति तस्य स्थूलत्वनिरूपणम्। बुद्धौ प्रविष्टो वा बुद्धिमपि विशदयतीति पश्चात्स्थूला बुद्धिः सूक्ष्मान्विषयान्न प्रहीष्यति। तेन मनसो रजस्तमःकृतो दोषो निवर्त्तितो भवति। चकारात्सुन्दरश्च। सर्वविशेषसमवायात्। तेन तत्र बुद्धिः स्थिरा भवति। स्थवीयसामाकाशादीनां मध्ये। उपचितावयवत्वादिति। अत एव "आकाशशरीरं ब्रह्मे" ति "वायुरात्मे" ति "ज्योतिषां ज्योतिरि" ति "तोयात्मने नम" इति वाक्यैः सर्वाण्येव भूतानि भगवच्छरीरत्वेनोक्तानि। तथाप्यस्मादेव विशेषादस्य धारणाविषयत्वम्। किञ्च। सर्वाणि रूपाण्यत्र सम्भवन्ति। इदं तु नान्यत्र सम्भवतीत्यस्य ध्यानास्पदत्वम्। तदाह—यत्रेति। सर्वमेव विश्वमत्र व्यज्यते समुद्राः सूर्यो वायुरवकाशश्च। अन्येषामपि सूक्ष्माणामेतदवान्तरभूतानामहङ्कारादीनाञ्च स्वयमेवाऽत्र निवेशं वक्ष्यति—"पातालम्" त्यादिना। किञ्च। कालोऽप्यत्र निविशते कार्यद्वारेति तदाह—भूतं भव्यं भवच्चेति। उदयास्तमयरूपस्य कालस्य भूतत्वादिसाधकत्वम्। केनचिन्निमित्तेनाऽतीतत्वादिधर्मसम्बन्धात्। तत्रोत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणगुणत्रयप्रेरणात्तथात्वम्। अतः स्वकार्यसहितः कालो भवच्चेष्टारूपोऽत्र स्पष्टतया प्रकाशत इति सर्वमेव भगवत्कार्यमत्र स्पष्टतया ज्ञातं भवति। भूतं जातम्। भव्यम् भाव्यम्। भवत् वर्त्तमानरूपम्। चकारात्कालत्रयसम्बन्धरहितमपि प्राणजीवादिस्वरूपमत्र दृश्यत इत्यर्थः। यदिति प्रसिद्धम्। नाऽत्र तिरोहितमिव किञ्चित्। अतो विशेषतः प्रमाणं न वक्तव्यमिति भावः॥ २४॥

भावबोधिनी भाषा टीका।

सर्व विशेषवान् पृथ्वी ही भगवान् का स्थूल देहरूप है। क्यों कि आकाशादि अन्यपदार्थों के विशेष भी इसी में पाये जाते हैं। 'अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते' इस तृतीयस्कन्ध के श्लोक में यह बात कही है। अथवा 'वि' अर्थात् शेष जो शिष्ट रहता है वही विशेष रूप ही भगवद्देह है। यहाँ के अन्य विशेषों को तो भगवदिच्छा से काल ग्रस जाता है। इस लिये ऐसी अवस्था में 'वि' काल का शेष ही विशेष कहा जायगा यह काल ही भगवान् का देह है। ग्रास के अधीन न होने से ही यह काल भगवद्देह है। और यह भी ठीक है कि काल तो भगवान् की चेष्टा है उस चेष्टा का आधार शेष ही भगवान् का देह है। भगवान् के देह के विषय में बहुत से वाद प्रचलित हैं। देह आत्मा का संयोग सम्बन्ध है यह सांख्य मतवाले मानते हैं। उन के एकदेशी (मायावादी) और योगमतवाले देह का अध्यास (भूल) होता है देह नहीं है, ऐसा मानते हैं। कितने ही कहते हैं कि पार्थिवादि देहो में भगवान् का आवेश हो जाता है। लोहे के गोले में अग्नि के आवेश की तरह। और कितने ही कहते हैं कि अहंकार से अपनपा मान लेना यही भगवान् का देह है। यह चारों पक्ष वास्तव में भगवान् और देह का सम्बन्ध प्रतिपादन करने वाले नहीं हो सकते। वास्तव में तो भगवान् और देह का स्वस्वामिभाव संबन्ध है। देहादि सब पदार्थ स्व-भोग्य हैं और भगवान सब का स्वामी भोक्ता है। यह बात 'तस्य' इस षष्ठी युक्त पद से दिखा रहे हैं। बढ़ना जिसका अर्थ है उस 'दिह' धातु से अच् प्रत्यय करने पर देह बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि भगवान् का यह बढ़ना है अर्थात् भगवान् से सम्बन्ध होने से इन भगवद्रूप पदार्थों की यह वृद्धि होती है।

निजस्वरूप में रह कर ही यद्यपि सब कुछ करने की शक्ति भगवान् में है तथापि सब के पोषण के लिये स्वरूप से भी विशेष सुख पहुचाने के लिये पुष्ट हो कर उस देह द्वारा सब करता है इस लिये यही भगवान् का रूप (देह) धारणा का विषय होता है। यह सब ही विचारकों की सम्मति है। और यह रूप आँखों के ओझल भी नहीं है। यद्यपि सारारूप प्रत्यक्ष नहीं है एकदेश ही है तथापि इतने से बाकी का अनुमान किया जा सकता है। अन्य अवयवों की समझ के साथ प्रत्यक्ष सामग्री ही विशिष्ट ज्ञान को कराती है। नाप तोल में बडी घट्ट और भारी होने से पृथ्वी ही सब से स्थूल कही जा सकती है। इस शास्त्र में जिस पदार्थ के अवयव घट्ट न हों वह सूक्ष्म कहा जाता है और जिसके अवयव घट्ट होते हैं वह स्थूल कहा जाता है। घनाङ्ग न होने से ही आकाशादि पदार्थ सूक्ष्म हैं और उस तरह से व्यवहार में भी नहीं लाये जा सकते। पृथ्वी तो घनी नाप तोल में बडी और भारी होने से आकाशादि सब से स्थूल है। औरों के मत में जैसे मिले हुए और बढ़े हुए अवयवों से अवयवी प्रकाशित किया जाता है इसी तरह यहां पृथ्व्यादि देहों से भगवान् भी प्रकाशित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि पृथ्व्यादि पदार्थों को जब ध्यान का विषय बनाते हैं तब उनमें समाया हुआ भगवान् भी प्रकाशित हो जाता है। इसी लिये इन को भगवान् का स्थूलरूप कहा है। उन सब में यह पृथ्वी सब से स्थूल है। बुद्धि में प्रवेश करके उसको भी विशद (स्वच्छ) कर देगा तो फिर स्थूल हुई यह बुद्धि विषय रूप सूक्ष्म पदार्थों में न ठहरैगी। इस से स्पष्ट होता है कि इस धारणा से मन के रजःकृत तमःकृत, दोषों की निवृत्ति हो जाती है। '**स्थविष्ठश्च**' में जो 'च' कहा है उसका यह तात्पर्य है कि सब विशेषों का इसमें समन्वय होने से यह पृथ्वी भगवान् का देह सुन्दर भी है। इसी लिये बुद्धि वहाँ स्थिर हो भी सकैगी। बढे हुए अवयव होने से आकाशादिक भी स्थूल हैं पर यह उनसे भी स्थूल है। इसी से श्रुतियों में आकाश को, वायु को, तेज को, और जल को भी भगवान् का शरीर कहा है। इस विशेष से ही इसको धारणा का विषय बनाया जाता है।

एक बात और भी है कि—इस पृथ्वी पर ही सब अन्यरूप है पर अन्यत्र यह पृथ्वी नहीं है। इस लिये इस को ध्यान में लाने को कहा है। यह बात आधे श्लोक में कहते हैं। समुद्र, सूर्य, वायु, आकाशादि सारा जगत् इस पृथ्वी पर व्यक्त हो रहा है। आगे '**पातालमेतस्य हि पादमूलम्**' इत्यादि श्लोकों में सूक्ष्म और अवान्तरभूत अहंकारादि पदार्थों का भी इसी में (भगवद्रूप में) समावेश कहेंगे। काल भी कार्य के द्वारा इस रूप में पाया जाता है। उदय अस्त आदि सूर्यादि की गति ही काल में भूत भविष्यादि व्यवहार सिद्ध कराती है। भगवादिच्छा से काल में जो चलन धर्म मालूम पडता है, इसी से काल का जाना आना मालूम

देता है । इस में भी उत्पत्ति स्थिति और विनाश स्वरूप सत्त्वादिगुणत्रय की प्रेरणा से ये अतीतत्वादि धर्म रहते हैं । इस से यह स्पष्ट है कि अपने कार्य सहित भगवच्चेष्टारूप काल भी इस पृथ्वी पर स्पष्ट ही विदित होता है । भूत, हो चुका, होने वाला भव्य और भवत् वर्तमान । चकार से कालादि सम्बन्ध रहित प्राणजीव आदि पदार्थ भी इस पर ही देखे जाते हैं । यह बात प्रसिद्ध है इस लिये इस में अब बहुत प्रमाण देने की अपेक्षा नहीं है यह बात ' यत् ' पद कह रहा है ॥ २४ ॥

ननु जडस्य कथं ध्येयत्वम् । ध्यातस्य फलदानावश्यम्भावात् । क्रियान्तरवद्ध्यानस्य नाऽदृष्टद्वारा फलजनकत्वम् । ध्येयसाक्षात्कारस्यैव दृष्टत्वात् । भगवत्सम्बन्धाद्ध्येयत्वेऽपि "**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय**" इति न्यायेन भगवानेव कथं न ध्यानविषयीक्रियते । तत्राऽऽह—

यहाँ अब यह प्रश्न होता है कि जड का ध्यान क्यों करना ? जो ध्यान किया जाय वह फल देवे, यह अवश्य होना ही चाहिये । और यहां यह जड फल ही क्या देगा ? यदि कहो कि यज्ञादि क्रिया जड है तथापि अदृष्ट के द्वारा फल प्राप्ति कराते हैं इस तरह यह जड ध्यान भी फल दान करा सकता है । यहां ध्येय साक्षात्कार दृष्ट ही है अदृष्ट नहीं । भगवत्सम्बन्ध से यद्यपि जड़ को भी ध्येयता आ सकती है तथापि ' गौण की अपेक्षा मुख्य मे ही कार्य करना उचित है, इस न्याय से भगवान् को ही धारणा का आश्रय क्यों नहीं बनाया जाता ? इसके उत्तर में कहते हैं कि:—

आण्डकोशे शरीरेस्मिन्सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान्धारणाश्रयः ॥ २५ ॥

मूलार्थः—सात आवरणों से युक्त ब्रह्माण्डरूप शरीर में जो यह पुरुष है वही भगवान् धारणाका आश्रय है ॥ २५ ॥

सुबोधिनी ।

आण्डकोश इति । नेदं ध्यानविषयत्वेन निरूपितं किन्तु तदाश्रयत्वेन । अनेन "**यथा सन्धार्यत**" इत्यपि निरूपितं भवति । भगवान् साक्षाद्विषयत्वेन आण्डकोशस्तु तदाधारत्वेन । यद्यपि स्वात्मन एव जीवस्याऽऽधारत्वंयुक्तं तदप्यग्रिमाध्याये मतान्तरत्वेन वक्ष्यते । तथापि बहिः स्थितो भगवानन्तः प्रवेशनीय इतिर नेहाधिक्यसिद्ध्यर्थमात्मनो महत्त्वसिद्ध्यर्थं च प्रयत्नसाफल्याय च स्वात्मनि सिद्धभगवद्रूपापेक्षया सिद्धसाधनत्वदोषाभावात्स्मरणमात्रविषयत्वाच्च ध्यानसिद्ध्यर्थं ब्रह्माण्डाधार एव भगवान्विषयत्वेन निरूप्यते । अण्डसम्बन्धी आण्डः । स एव कोशो मुकुलितकमलरूपः । स एव शरीरम् । "**भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैरि**" तिवाक्यात्स्वार्थं भगवाञ्छरीरमिदं कृतवान् । अतोऽत्र कृतं तस्य भोगाय भवति । भोगायतनत्वाच्छरीरस्य । अत आत्मापेक्षयाऽऽप्ययमेवाऽऽधारत्वेन ध्येय इति भावः । कोशरूपत्वादस्येतरदेहवत्सच्छिद्रता निवारिता । तत्रैव मकरन्दपानञ्च । अस्य शरीरस्य सुरक्षितत्वं कथयन्भगवद्व्यतिरिक्तस्यैव सर्वस्य तत्त्वसमूहस्याऽत्र निवेशमाह—**सप्तावरणसंयुत इति** । सप्तान्यावरणानि तैः संयुक्ते । संयुक्तपदान्मध्ये शून्यं स्थानं निवारितम् । जलादिप्रकृत्यन्तानि सप्तावरणरूपाणि । तत्र यो वैराजः पुरुषो द्वितीयपुरुषरूपो यः सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्धः असावित्यनुभवसिद्धश्च स एव वैराजो विराट्शरीरे प्रविष्टः । न तु जीवविशेषः

कश्चित् । तदाह—भगवानिति । यो वैराजः पुरुष उक्तः स एव भगवान् योगिप्रत्यक्षसिद्धः अत एव प्रचुरतराभ्यासादसाविति प्रत्यक्षतया निर्देशः । स तु धारणाया आश्रयः । तस्याऽऽश्रयः कोशः । यथा अयोगोलकस्थो वह्निः । यथा वा कमलस्थितो भ्रमरः । यथा वा प्रासादस्थितो राजा । आश्रयपदेन धारणायाः फलं स्वशरणमागतायाः सर्वथा दास्यतीति सूचितम् ॥ २५ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

पूर्वपक्ष ठीक है, पर यहां इस शरीर को ध्यान का विषय नहीं कहना है, किन्तु ध्यान में आने वाले भगवान् का यह आधार है यह दिखाने के लिये वैसा कहा । यद्यपि अन्तरङ्गरूपसे स्वस्वात्मा जीव ही भगवान् का आधार है और उसका वर्णन आगे के अध्याय में मतान्तररूप से आवैगा भी, तौ भी यहां जो जड ब्रह्माण्ड को शरीर (आधार) कहा है सो अब अन्य कारण से है । भगवान् बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है । उस बहिः स्थित भगवान् को अन्तः प्रवेश कराने में भगवान् में स्नेह अधिक प्रकाशित होता है, और स्वात्मा जो अणु सिद्ध हो रहा है वह भी वास्तव में महान् है । यह महत्त्वयुक्त भगवान् के अन्तः प्रवेशसे ही सिद्ध होगा इस लिये, और प्रयत्न की सफलता के लिये, स्वात्मा में तो भगवान् सिद्ध ही हैं इसके साधन में इतना प्रयत्न क्यों ? यह सिद्ध साधन दोष न आ जावै इसलिये भी और विशेषतः तो स्मरणमें आनेके लिये । तो यह ब्रह्माण्डाधार भगवान् को ध्यानसिद्ध्यर्थ ही धारणाका आधार कहा है । अण्डसंबन्धी यह जो संकुचित कमल की डोड़ी समान आकार ब्रह्माण्ड है, यही भगवान् का श्रीअंग है । एकादशस्कन्ध में जो योगेश्वरके भूतैः इत्यादि वाक्य में भगवान् ने अपनी लीलासिद्धि के लिये शरीर तयार किया है ऐसा कहा है । इस लिये यह भी सूचित होता है कि इस शरीर के विषय में जो कुछ किया जाता है उस का उपभोग यह अन्तः स्थित भगवान् करते हैं । क्यों कि शरीर ही भोग करने के लिये उपयुक्त स्थान होता है । आत्मा की अपेक्षा इसे ही आधार कहा इस में एक यह भी कारण है । और इसका ही आधारत्वेन ध्यान करना उचित है । देहको कोशरूप बता कर यह कहना है कि अन्य देहो में जैसे छिद्र होते हैं, वैसे इस में छिद्र नहीं है । और मकरन्द का पान भी इस में सूचित होता है ।

अब यह शरीर खूब सुरक्षित है, इतना कहते हुए, भगवान को छोड़ कर सब ही तत्त्वों का इसी में समावेश हो रहा है यह कहते हैं—यह भगवान् का शरीर सात आवरणों से ढ़का हुआ है । यहां ढँके की जगह संयुक्त पद देने का यह तात्पर्य है कि बीच में किसी तरह की पोल नहीं है । जल, अग्नि, वायु, आकाश, महत् सूत्र और प्रकृति ये सात इस अण्डकोश के आवरण हैं । इस के अन्दर वैराज पुरुष घुस गया है । यह द्वितीय पुरुष अक्षर ब्रह्म है जो सब शास्त्रों में प्रसिद्ध है, और जिसका ‘ वह ’ इस रूप से सब को अनुभव भी है । यह कोई विशेष युक्त जीव नहीं है, यह बात ‘ भगवान् ’ इस शब्द से सूचित की है । जो वैराट्

पुरुषरूप से शास्त्र में प्रसिद्ध है वही भगवान् यहां योगियों के ध्यान में प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। इस लिये ही श्रीशुकब्रह्म को रात दिन का खूब अभ्यास होने से इसे 'असौ' कह कर प्रत्यक्ष सा दिखाकर कहा है। यह भगवान् धारणा का आश्रय है और इस का आश्रय यह कोश है। यहां अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तपका अभेद निरूपण किया है। और वही अक्षरब्रह्म इस विराटके अन्दर प्रविष्ट हुआ है। इस लिये अन्तःस्थ (अन्तर्यामी समष्टि) का इन दोनों के साथ अभेद समझ लेना उचित है। इसी आशय से तीन दृष्टान्त दिये हैं। यह सब "यः पुरुषः स एव वैराजः" इस उद्देश्यके विवरणसे स्पष्ट होता है। लोहे के गोले में जैसे वह्नि प्रविष्ट होता है स्थित होता है। यह दृष्टान्त अक्षरब्रह्म की दृष्टिसे है। अक्षरब्रह्म सर्वत्र बाह्य भीतर व्याप्त ही बाहरसे भीतर जैसा प्रकाशित होता है। और अग्नि भी बाहरसे भीतर स्थित होकर बाहर भीतर हो जाता है। कमल में जैसे भौंरा स्थित होता है यह दृष्टान्त अन्तः स्थित की दृष्टिसे है। भ्रमर अन्तः स्थित है, पृथक् है और भोग भी करता है। इसी तरह यह अन्तः स्थ भी है, निर्लेप भी है और एक स्वरूप से भोग भी करता है। और जैसे अपने क्रीडास्थान महल में स्थित राजा। इस दृष्टान्त से भी पुरुषोत्तमकी सूचना होती है। "आश्रय" शब्द से यह सूचित होता है कि अपने शरणमें आई धारणा का फल यह भगवान् अवश्य देगा ही

इदानीं सर्वेषामेव सूक्ष्माणां साधाराणां तत्र निवेशनं वक्तुं भारत्वाभावायाऽऽधारणामवयवत्वं निरूपयति पाताल-मित्यादिभिः—

अब जो पदार्थ सब से छोटे हैं और साधारण हैं उनका भी इस भगवच्छरीर में ही निवेश कहने के लिये यह भी कहते हैं कि ये पदार्थ भगवान् के अवयव हैं अतएव भगवान् को किसी तरहभी इनका बोझा नहीं है।

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥ २६ ॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलञ्चाऽतलञ्च।
महीतलं तज्जघनं महीपतेर्नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥

मूलार्थः—इस विराट् भगवान् का पादतल पाताल है। एडी और पादाग्र रसातल है, टखना महातल है। और महापुरुष के घेंटू के नीचे का भाग तलातल है। दो घेंटू सुतल हैं और

इस विश्वमूर्ति भगवान् की दोनों जांघ वितल और अतल लोक हैं। पृथ्वीपति भगवान् का पेडू महीतल है। और नाभि को नभस्तल कहते हैं। भगवान् का वक्षःस्थल ज्योतिश्चक्र है। और इनकी ग्रीवा महर्लोक है। भगवान् का मुख जन लोक है। आदिपुरुष भगवान् का ललाट तपोलोक है और सहस्रशीर्षा भगवान् का मस्तक सत्यलोक है॥ २६॥ २७॥ २८॥

सुबोधिनी।

चतुर्दश लोकाश्चतुर्दशभेदेनाऽवयवविन्यासत्वमापन्ना ध्यानविषयत्वमापद्यन्ते न तु भगवदवयवा लोकत्वमापन्नाः। तथा सत्युत्तमस्य हीनभावादध्येयत्वमेव स्यात्। तदाह। पातालं सर्वाधोलोकः। पादमूलं पादारक्तस्थानम्। तथा सति वासुकिप्रभृतीनां रेखात्वमुपपद्यते। अत्र प्रमाणमाह—**पठन्तीति**। वेदवदनादिसिद्धेयं प्रसिद्धिः। एतस्य शरीरस्य। भगवत्पक्षे साकारब्रह्मणस्तत्र व्याप्तत्वात्तद्भावमापन्नमिती। पार्ष्णिश्चरणपश्चाद्भागः। प्रपदं पदाग्रम्। प्रत्याहारेण तन्मध्यभागश्च। रसातलं तदुपरितनो लोकः। गुल्फौ पादग्रन्थिरूपौ। महातलं रसातलादुपरितनो लोकः। एवमग्रेऽपि पूर्वनिरूपितस्योपरितनो लोकः पश्चान्निरूप्य इति। महातलस्य महत्पदप्रयोगे हेतुमाह **विश्वसृज इति**। तत आरभ्य सृष्टेराधिक्यात्। तस्य भिन्नखण्डत्वनिरूपणायाऽथशब्दः। एतावता पञ्चात्मकः पुरुष इति निरूपितो भवति। तत्र लोकद्वयमेकः खण्डः। अथ भिन्नप्रकारेण। **गुल्फौ** त्रयाणामपि गुणानां पञ्च भेदा अप्युक्ता भवन्ति। केवलं तमः, रजस्तमः, रजः, रजःसत्त्वम्, सत्त्वमिति। तत्र केवलं तमो निरूपितम्। महातलादिसुतलपर्यन्तं द्वितीयः खण्डः। तत्र जङ्घे तलातलम्। **पुरुषस्येति लोमशत्वम्** जङ्घे जङ्घाद्वयम्। उभयावयवत्वान्नाभ्नि पदद्वयप्रयोगः। आधारत्वेन वा। सुतलं द्वे जानुनी। जानुनी पदेनैव जानुद्वये प्राप्ते पुनर्द्विपदं तस्य लोकस्य द्विरूपताज्ञापनार्थम्। अत एवाऽग्रे सुतलं शुद्धमिति वक्ष्यति। साधारणस्थानं स्वस्थितिस्थानञ्च। यत्र बलिस्तिष्ठति तच्छुद्धम्। अत एव तस्य प्रदर्शितं विश्वरूपमनुस्मारयति—**विश्वमूर्त्तेरिति**। वितलमतलञ्च ऊरुद्वयम्। एकमतलम्। एकं वितलम्। केचनाऽग्रपश्चाद्भावभेदेन द्वयमपि द्वयमाहुः। तल्लौकिकपुरुषन्यायेन तथा सम्भवेऽपि पञ्चमे ततोऽधस्तादित्यभावाच्चिन्त्यम्। अत्र चकारद्वयस्य विद्यमानत्वात्तथात्वं वा। तत्राऽप्यवान्तरभेदो वा महादेवक्रिडास्थानं मयपुत्रस्थानञ्च स्वर्गापररूपम्। महीतलं पृथिवी। तस्य भगवतो जघनम्। उत्थितपुरुषस्यैवं व्यवस्था। ऊर्ध्वगोलस्य च ध्येयस्तु स एव। **महीपतेरिति** राजरूपेणाऽत्र भगवत्स्थितिरुक्ता। नभस्तलमन्तरिक्षम्। नाभिसर इत्यन्तरिक्षे जलस्थितिरुक्ता। प्रत्यक्षविरोधेऽपि वेदप्रमाणसिद्धमित्याह—**ग्रणन्तीति**। "**सलिलं वा इदमन्तरासीद्यदतरन्तत्तारकाणां तारकात्वमि**" ति श्रुतेः। अत्र भगवन्मूर्तेरभावाद्रुद्रालयत्वाच्च नाभिकमलोद्भवसम्भवाच्च सरस्त्वेनैव निरूपणम्। उरः वक्षस्थलम्। ज्योतिरनीकमादित्यादिध्रुवान्तं ज्योतिश्चक्रम्। तदस्य। तत्र नाऽन्यस्तिष्ठतीत्युक्तं भवति। शिशुमारस्य भगवत्त्वात्। हृदये च जीवस्थानं भवति। अतो ज्योतिरनीके शिशुमारे भगवान् ध्येयःग्रीवा महर्लोकः। वदनं जनलोकश्चिबुकादिभ्रूपर्यन्तम्। अयमपि केवलं भगवतः नित्यसुखस्थानत्वात्। तदग्रे वक्ष्यामः। तपोलोको रराटी ललाटं शून्यस्थानम्। स्त्रीपदप्रयोगः शृङ्गाराधारत्वख्यापनार्थः। **आदिपुंस इति**। तपसा तत्प्राप्यत इति सत्यं तु शीर्षाणि। शिरसां बहुत्वे हेतुः—**शहस्रशीर्ष्ण इति**। "**शहस्रशीर्षे**" ति तस्य श्रौतत्वज्ञापनाय। तत्र ब्रह्मादीनां बहूनां लोकभेदात्सर्वेषां मूर्धन्यतांसिद्ध्यै मूर्धानं यन्तीति शीर्ष्णां बहुवचनम्॥२६

भावबोधिनी भाषाटीका।

चौदह लोक भगवान् के चौदह अवयव सजावट में आ कर ध्यान का विषय हुए हैं। भगवान् के अवयव लोक हो गये हैं यह बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो उत्तम को हीनता आ जाने से ध्येयता ही न रहती। इसी से इस तरह कहते हैं—सबसे नीचे का लोक पाताल स्थान भगवान् का गुलाबी चरण तल है। वासुकी प्रभृति नागसर्पादि सब चरणतल की

रेखायें हैं, यों समझ रखना चाहिये। 'पठन्ति' शब्द से इस सिद्धान्त में प्रमाण कहा है। अर्थात् वेद की तरह प्रामाणिक प्रसिद्धि अनादि सिद्ध है। भगवान् के इस शरीर (ब्रह्माण्ड) का अथवा भगवान् का ही, चरण के पीछे का भाग तथा आगे का भाग और प्रत्याहार न्याय से मध्यभाग रसातल है। जो पाताल से ऊपर का लोक है। यहाँ भगवान् ने शरीरानुसार अपना आकार करके ही प्रवेश किया है। इस लिये ये अवयव दोनों के समझ लेने चाहियें। शरीर के और भगवान् के, बार बार लिखने कहने की जरूरत नहीं है।

अब आगे महातल लोक जो कि रसातल के ऊपर का लोक है जगत्कर्ता भगवान् के गुल्फ (टखने) हैं। आगे सब जगह नीचे से ऊपर का लोक समझते रहना चाहिये। महातल में बड़प्पन दिखाने के लिये विश्वमूर्ति शब्द दिया है। यहाँ से सृष्टि के बाहुल्य का प्रारम्भ हुआ है। यह अवयव विभाग भिन्न ही है। यह दिखाने के लिये 'अथ' शब्द दिया गया है। इस से यह भी जाना जाता है कि जिस तरह मनुष्य के अवयव समूह में पांच विभाग भी माने गये हैं इस तरह लौकिकनाट्य करने वाले भगवान् के अवयवों में भी पाँच विभाग हैं। यह पुरुष पञ्चात्मक है। पाताल, रसातल, पादमूल, पार्ष्णि, प्रपद ये सब अवयवों का एक भाग है।

अब भिन्न प्रकार के गुल्फों का ग्रहण किया है। यहाँ इन लोकावयवों में ही तीन गुणों के पांच बटवारे करके समावेश समझ लेना चाहिये। केवल तमः, रजस्तमः, केवल रजः, रजः सत्त्व और केवल सत्त्व। पहला विभाग केवल तमस् का है। दूसरा रजस्तम का है, तीसरा केवल रजस् का, चौथा रजः सत्त्व का और पांचवां भाग केवल सत्त्व का है। महातल से सुतलपर्यन्त द्वितीय खण्ड है। महातल के ऊपर का तलातल पुरुष (भगवान्) की दोनो जङ्घा हैं। टखनों से ऊपर का और घुटनों के नीचे का भाग जङ्घा कहा जाता है। दो अवयव पृथक् पृथक् हैं यह दिखाने के लिए नाम के साथ द्विवचन का प्रयोग है। अथवा द्विविध आधार होने से पुरुष शब्द से अवयवों में क्वचित् लक्षणानुसार नरम नरम लोम भी समझ लेनी चाहिये। सुतललोक विश्वभगवान् के दोनों घुटने हैं। 'जानुनी' शब्द में द्विवचन आ ही गया है फिर भी जो 'द्वे' शब्द दिया गया है वह इस लोक को दो प्रकार का दिखाने के लिये है। शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का सुतल लोक है। इसी से आगे 'सुतलं शुद्धं' ऐसा कहेंगे। साधारण लोगों का स्थान सुतल एक, और भगवान् के निवास करने का स्थान सुतल दूसरा। जहाँ बलि निवास करता है वह शुद्ध सुतल है। यहाँ शुद्ध स्थान भिन्न है यह दिखाने के लिये ही 'विश्वमूर्तेः' विश्वरूप कह कर भगवल्लीला का स्मरण कराया है।

आगे वितल और अतल दो लोक भगवान् के ऊरुद्वय (जिन्हे भाषा में जांघ कहते हैं) हैं। एक ऊरू अतल और दूसरा वितल। कितने ही कहते हैं कि ऊरू ही आगे से वितल और पीछे का भाग तल है। यद्यपि यह इन का मत लौकिकपुरुष की दृष्टि से मानने लायक हो सकता था, किन्तु पञ्चमस्कन्ध में तल वितल के मध्य में अधस्तात् पद न होने से यह उनका मत विचारणीय है। किं वा, यहां दो 'च' शब्द होने से मालूम होता है कि यहाँ यह मत ग्राह्य है। अथवा एक महादेव का क्रीडास्थान दूसरा मय पुत्र का स्थान ये दो स्वर्ग जैसे एक लोक के ही अवान्तरभेद भी हैं।

महीतल-पृथ्वीलोक, भूस्वामी भगवान् का जघन (पेडू) है। पञ्चमस्कन्ध को देखते यह अवस्था खडे हुए पुरुष की सी है। पृथ्वी के ऊर्ध्व और अधः दो गोल हैं। उन में ऊर्ध्वगोल की यह व्यवस्था है, और ध्येय भी ऊर्ध्वगोल (जघन) ही है। यद्यपि पुरुष शरीर में श्रोणि (कूला) वगैरह भी वर्णनीय थे किन्तु वे पञ्चमस्कन्धानुसार महीतलस्थ ही हैं। और जघन्य-स्थानीय होने से यहां उस भाग का समावेश न करके ध्येय स्थान का ही निर्देश किया है। 'महीपतेः' शब्द से ज्ञात होता है कि यह भगवान् की स्थिति राज रूप से है।

नभस्तल अन्तरिक्षलोक को वेद में भगवान् का नाभिरूप सरोवर कहा है। तलाव कहने से अन्तरिक्ष में जल की स्थिति है यह मालूम पडता है। यद्यपि प्रत्यक्ष में जल होना पाया नहीं जाता, विरुद्ध है तथापि 'सलिलं वा इदमन्तरासीत्' इत्यादि वेदवाक्य से सिद्ध है इसलिये जलस्थिति माननी उचित है। यहाँ आकर भगवान् की वह मूर्ति नहीं रही। क्यों कि यह स्थान रुद्रालय और नाभिकमल का उद्भवस्थान होने से सरोवररूप से ही वर्णन किया है। ध्रुवान्त सारा ज्योतिश्चक्र (खगोल) भगवान् का उरःस्थल (छाती का भाग) है। इस से भी पृष्ठभाग आदि का वर्णन करना था किन्तु अधर्मादिस्थान हैं, इसलिये ध्येयभाग का ही वर्णन कर उसी में समावेश कर लिया है। यहाँ शिशुमार भगवान् का स्थान होने से अन्य किसी की स्थिति नहीं है। हृदय में जीव का स्थान है। अत एव स्कन्धान्तर में भी ज्योतिश्चक्र में शिशुमार भगवान् का ध्यान करना कहा है। महर्लोक भगवान की ग्रीवा है।

जनलोक भगवान् का चिबुक से भ्रू पर्यन्त श्रीमुख है। यह स्थान भी केवल भगवान् का ही है क्यों कि यह नित्य सुख का स्थान है। यह बात आगे समझाई गई है। तपोलोक भगवान् का ललाट शून्यस्थान है। 'रराटी' शब्द में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग इस लिये किया है कि यह स्थान शृंगार का आधार है यह दिखाने के लिये। तप करने से यह लोक मिलता है इस लिये इसे तपोलोक कहा है। और सत्यलोक सहस्रशीर्षा भगवान् के श्रीमस्तक हैं।

यह मत श्रौत है यह दिखाने के लिये वेद की प्रतीक दी है। इस श्रीमस्तक में ब्रह्मादिलोक में बहुत से स्थानभेद हैं यह दिखाने के लिये 'शीर्षाणि' कहा है। बडप्पन सिद्ध होने के हेतु से ब्रह्मादिलोक को शीर्ष में स्थान दिया है ॥ २६॥ २७॥ २८॥

एवं लोकानां सन्निवेशमुक्त्वा तत्रत्यानां जीवानां सन्निवेशमाह इन्द्रादय इत्यादिना—

इस तरह चतुर्दशलोकों का भगवदवयवों में सन्निवेश बता कर अब उन लोकों में रहने वाले जीवों का भी भगवान् में ही समावेश है, यह कहते हैं:—

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणश्च गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥ २९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥ ३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य यशो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्त सर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥ ३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथश्च पृष्ठः।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र।
अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः॥ ३३॥
ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान्वासस्तु सन्ध्ये कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः॥ ३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे॥ ३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरः स्मृतीरसुरानीकवर्यः॥ ३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरंघ्रिः श्रितकृष्णवर्णः।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः॥ ३७

मूलार्थः—कर्म फल को देने वाले देवगण भगवान् की बाहु हैं, दिशायें कान हैं, और शब्द ही भगवान् की कर्णेन्द्रिय हैं। अश्विनीकुमार इसकी नाक है और उसमें गंध ही घ्राणेन्द्रिय हैं। दीप्त अग्नि ही विराट् का मुख है और शिशुमारचक्र ही नेत्र हैं। सूर्य, चक्षु इन्द्रिय हैं और पलक रात्रि दिन हैं। विराट् की भ्रू का खेल ब्रह्मा का स्थान है, और जल ही तालु है। रस ही जीभ है और सात छन्द ही विराट् का यश है। यम ही दाढ है और स्नेह कला ही विराट् के दांत हैं। लोगों को मस्ती कराने वाली माया ही विराट् का हास्य है। जिसका कभी अन्त न आवै ऐसा यह सर्ग ही भगवान् का कटाक्ष मोक्ष है। ऊपर का ओष्ठ लज्जा है, और नीचे का ओठ लोभ है। विराट् का स्तन धर्म है, और पीठ अधर्म है। भगवान् का उपस्थ ब्रह्मा है, और वृषण मित्र देवता हैं। विराट् का उदर समुद्र है, और पतर्व इस की हड्डियाँ हैं। विराट् की नाडियाँ नदी हैं और रोम वृक्ष हैं। हे राजन्! विराट् भगवान् के श्वासोच्छ्वास, वायु है। काल ही भगवान् की गति है। गुण का प्रवाह ही कर्म और मेघ ही केश हैं। दोनों सन्ध्या वस्त्र हैं और प्रकृति ही हृदय है। सब विकारों का कोष चन्द्रमा ही भगवान् का मन है। भगवान् की महिमा विज्ञान शक्ति है। उनका अन्तः करण महादेव है। और घोडा खच्चर ऊंट हाथी भगवान् के नख हैं। मृगपशु भगवान् के कूला हैं। पक्षि शिल्पविस्तार है। मनु इच्छा है, मनुष्य वास स्थान, गन्धर्व विद्याधर चारण अप्सरा ये सब स्वरूप हैं। ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जंघा और शूद्र चरण हैं॥ २८—३७॥

श्रीसुबोधिनी।

यद्यपि येषां यत्स्थानं ते तत्र निविष्टा इत्यर्थादुक्तं भवति तथाप्यनियतस्थानजीवानां स्थानं निरूप्यते। यतो देवाः सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमन्ति। अथवा। भगवदिन्द्रियाणामाधारत्वं न भविष्यतीति तन्निरूपणार्थं पृथङ्निरूपणम्। आधिदैविकास्ते देवाः। अन्येऽपि तत्प्रकरणे निरूपितास्तद्रूपा एव। इन्द्रादयो देवा उस्राः कर्मफलदातारः। भारवहनसमर्था उस्रा उच्यन्ते। उत् ऊर्ध्वं सरन्तीति। "**उस्रावेतं धूर्षाहावि**" त्यत्र तथा निरूपणात्। भगवद्बाहवश्च फलदातारः। भगवतः कर्णौ ब्रह्माण्डे दिशः। यस्तु शब्दः स भगवतः श्रोत्रमिन्द्रियम्। नासत्यदस्रौ अश्विनौ। नासे परमस्य। नासिकाद्वयं परमस्य यज्ञस्य। यज्ञ एव तत्कृतोपकारात्। अस्मदिन्द्रियाद्यधिष्ठातारो भगवदिन्द्रियगोलकानि। विषयस्त्विन्द्रियम्। गन्धोस्य घ्राणम्। इद्धो ज्वलन्नग्निः। अतो भगवन्मुखे यद्देयं तज्ज्वलदग्नौ देयम्। द्यौः स्वर्गलोकः शिशुमारस्थानभूतः। अक्षिणी गोलके। चक्षुरिन्द्रियं पतङ्गः सूर्यः। पतन्गच्छतीति। चक्षुरपि भगवदीयं स्वस्मिन्पतच्चलत्वित्येतदर्थम्। पक्ष्माणि चत्वारि नेत्रोन्मीलननिमीलनकर्तॄणि **विष्णोरिति**। कालरूपस्य यज्ञस्वरूपस्य वा। अहनी रात्र्यहनी। उभे चेति देवमनुष्यभेदेन। चकारात्पितृब्रह्मणोरपि। परमेष्ठिधिष्ण्यं ब्रह्मस्थानं सत्यलोकस्थितं तस्य भगवतो भ्रूविजृम्भः। यं प्रति भ्रूर्वोर्विजृम्भणं सन्तोषेण प्रसारणं करोति तं ब्रह्मासने उपवेशयति। आपो जलानि वरुणपत्नीरूपाणि। अस्य तालुर्गोलकरूपा जिह्वा। जिह्वा इन्द्रियम्। एवकारेण रसवद्द्रव्यं निवारितम्। छन्दांसि गायत्र्यादीनि। परःसहस्रं छन्दांसि। तत्र सप्तमुख्यानि। यशः कीर्त्तिः। **गृणन्तीति** पूर्ववत्प्रमाणकथनम्। भगवद्दंष्ट्रा यमः। स्नेहकला मोहादयो द्विजानि दन्ताः। हासः हास्यं प्राणिनामुन्मादकर्त्री मायैव। चकारादनुन्मादकरी भक्तिरूपा च। माया पूर्वमुक्ता। दुरन्तसर्गः नित्यप्रवाहरूपा सृष्टिः। अपाङ्गमोक्षः कटाक्षमोक्षः। व्रीडा लज्जा। ब्राह्मणानामुपरि भवति। अधरः अधरोष्ठः। अधस्तनानामेव लोभो भवति। एवकारेणोपरितनानां लोभाभावः सूचितः।

धर्मो ब्रह्मसुतो नरनारायणपिता । चतुष्पाद्धर्मो वा । एकस्तनो दक्षिणः । वामस्त्वधर्मः । अधर्ममार्गश्च भगवतः पृष्ठभागः । कः प्रजापतिः । मेढ्रं अधइन्द्रियमिति यावत् । मित्रौ मित्रावरुणौ । मित्रद्वयं वा । कुक्षिरुदरम् । सर्वेऽपि समुद्रा भगवत्कुक्षिः । गिरयः पर्वताः । अस्थिसमूहा वंक्षवः । नद्यो गङ्गाद्याः । अस्य भगवतो नाड्यः । तनूरुहाणि लोमानि । **अथेत्य**चेतनप्रायसृष्टिसन्निवेशार्थम् । राजसानां वा लोकास्तामसाः । देवादय एतदन्ताः सात्त्विकाः । महीरुहा वृक्षाः । षड्विधा अपि भगवतो लोमानि । **विश्वतनोरिति** । विश्वं तनौ यस्य । अनेन तेषां विश्वरूपत्वं निरूपितम् । अन्नाच्छादन रूपत्वात् । **नृपेन्द्रेति** सम्बोधनं महाराजस्य राज्ये एकस्मिन्नपि वृक्षे च्छिन्ने लोमच्छेदनवत्क्लेशो भवतीत्यनुभवस्य संवादार्थम् । अनन्तवीर्यस्य भगवतः । श्वसितं नासापुटस्थवायुः । मातरिश्वा अयं वायुः । भगवतो गतिः । वयः कालः । कर्म भगवतो गुणप्रवाहः सत्त्वरजस्तमसां देवतिर्यङ्मनुष्यादिसृष्टिरूपः । ईशस्य ईश्वररूपस्य । अम्बुवाहा मेघाः । **विदुरिति** पूर्ववत्प्रमाणम् । वासः पीताम्बरम् । सन्ध्ये सन्ध्याद्वयम् । तुशब्देन मायापक्षव्यावृत्तिः । **भूम्न इति** । कालस्य । **कुरुवर्येति** सम्बोधनं भगवतो महत्त्वज्ञापनार्थम् । अव्यक्तं प्रकृतिर्भगवतो हृदयम् । **आहुरिति** पूर्ववत् । स चन्द्रमा आधिदैविकरूपः सर्वविकाराणां कोषरूपं भगवन्मनः । तद्विकासे सर्वे विकारा उत्पद्यन्त इति । विज्ञानशक्तिं ज्ञानशक्तिम् । महिं महत्तत्त्वम् । अन्तःकरणमहङ्कारम् । गिरित्रं महादेवम् । सर्वात्मन इत्यहंकारस्य सर्वत्र स्थितिरुक्ता । अश्वादयश्चत्वारोऽवयवचतुष्टयनखानि । तत्राऽऽद्यौ हस्तयोः । वामहस्तनखानां स्त्रीषूपयोग इत्यश्वतरी । सर्वे मृगाः पशवश्च भगवतोऽवयवत्वाभावेऽपि श्रोणिदेशे श्रोणिस्थाने भवन्ति । अथवा । मृगाः पशवश्च श्रोणिस्थानद्वयम् । वयांसि पक्षिणस्तस्य भगवतो व्याकरणम् । "**मयूराश्चित्रिता येने**" ति वाक्यात् । मनुः स्वायम्भुवादिः । मनीषा इच्छा । मनुजो मनुष्यः । निवासो गृहम् । गन्धर्वादयोऽप्सरोन्ता एकवद्भावं प्राप्ताः । स्वरो भगवत्कर्तृको रागविशेषः । असुरानीकवर्यः प्रह्लादः । स्मृतिः स्मृतीः स्मृतयः । पाठान्तरे अप्सरोन्ता प्रह्लादश्च स्वरस्मृती । आद्यः स्वरः । द्वितीयः स्मृतिः । **वीर्यं इति** पाठे पूर्वोक्ता एव स्वरस्मृतयः । असुरानीकं वीर्यं यस्य । समास एव उद्देश्यविधेयभावः । ब्रह्मभावः कश्चिद्धर्मः यस्मिन् विद्यमाने ब्राह्मणशब्दवाच्यो भवति पुरुषः । ब्राह्मण्यापरनाम ब्राह्मण्यं न जातिः । व्यक्तिसद्भावेऽपि तस्याऽपगमात् । "**ब्राह्मण्यादेव हीयत**" इति वाक्यानुरोधात् । वृत्त्यन्तरकल्पनायां प्रमाणाभावात् । नियतव्यञ्जकाभावाच्च । ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातत्वं चतुर्मुखे तत्पुत्रेषु मानसेषु च अव्यापकम् । ऋषभपुत्रेष्वेकाशीतिर्ब्राह्मणा बभूवुरिति वाक्याच्च । तस्माच्छास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद्ब्राह्मण्यं काचिद्देवता । सा यस्मिन्नेव देहेऽभिव्यक्ता भवति ते ब्राह्मणा इत्युच्यन्ते । अत एव शापादिना शूद्रत्वं चाण्डालत्वमनुग्रहेण ब्रह्मत्वमिति । सा चोपनयनेन देहे सामायाति । तदा बहूनि वाक्यानि सङ्गच्छन्ते । एवं क्षत्रम् । अत एव परशुरामे उभयनिवेशः । ब्रह्म आननं यस्य । क्षत्रं भुजो यस्य । पूर्वमिन्द्रोऽभिर्मुखत्वेनोक्तो वाक्प्रकाशार्थम् । अतो वागिन्द्रियदेवताऽग्निः । इन्द्रादयश्च भोक्तारो बाहवः पूर्वमुक्ताः । अत्र तु रसाधिष्ठात्री देवता वरुणः । रसभोक्तृ ब्राह्मण्यम् । तथा रक्षाकर्तृ क्षत्रमिति । विट् ऊरू यस्य । वितलातलरूपस्याऽप्यूरुणो वैश्यत्वम् । स्थितिसाधकत्वे पूर्ववद्विशेषः । वृत्तेश्चतुर्विधत्वाद्बहुवचनम् । विश ऊरू यस्येति । एवमंघ्रिः श्रितकृष्णवर्णः । श्रितः कृष्णवर्णो यम् । कृष्णवर्णः शूद्रत्वं । वेदरहिता विद्या च । कर्म द्विविधम् स्वाभाविकं वैशेषिकञ्च । स्वार्थं परार्थमिति यावत् । तत्र परार्थं पूर्वमुक्तं कर्म गुणप्रवाह इति । **अत्र तु स्वार्थं** कर्म । वितानाः सप्ततन्तुवितानाः । तेषां योगो यत्र सत्रा (?) हीनेषु स भगवत्कर्म । तस्य द्व्यङ्गतामाह । नानाभिधाः नानानामान इज्यगणा देवगणाः पूज्यगणास्तत्राऽप्यभितः प्रधानगुणभावेन तेनोपपन्नः । द्रव्यात्मकश्च व्रीहियवादिसाध्यपुरोडाशादिः देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः । तत्र देवता द्रव्यञ्चाऽङ्गम् ॥ २९ ॥ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

यद्यपि जिन जिन जीवों का भगवदवयवों में जहां जहां स्थान है वे वहां निविष्ट हैं, यह इस ग्रन्थ के तात्पर्य से निकल आता है, तथापि देवलोक सब लोकों में परिभ्रमण करते रहते हैं इस लिये अनिश्चित स्थानों के स्थिति स्थान कह रहे हैं अथवा किसी को यह प्रश्न हो कि

भगवान् के इन्द्रिय किसी के आधार न होगें, इसके उत्तर में कहते हैं । ये देवगण आधिदैविक हैं । और देव भी जो इस प्रकरण में कहे जायगें वे भी उनका ही रूपान्तर समझना चाहिये । इन्द्रादि देवगण कर्म फल देने वाले लोक में प्रसिद्ध हैं । फलभार को बहन कर ऊपर के तरफ चलें वे ' उस्र ' कहे जाते हैं । ' उस्रावेतं धूरुषा ' इस श्रुति में ये बात कही है । ये इन्द्रादि देवगण भगवान् के बाहु हैं । इसका यह तात्पर्य है कि भगवान् के बाहु सब को फल देने वाले हैं ।

ब्रह्माण्ड में जो दिशायें हैं वे भगवान् के कर्ण हैं और जो शब्द है वह भगवान् का कर्णेन्द्रिय है । अश्विनीकुमार यज्ञ भगवान् की नासिका है । यज्ञ और पुरुष का ऐक्य है । और यह बात ' तमेव यज्ञपुरुषं तेनैवायजमीश्वरम् ' भागवत श्लोक में कही है । यज्ञ में ही तत्तद्देवकृत उपकार समाविष्ट है । भगवान् की इन्द्रियों के गोलक (जहां इन्द्रिय रहता है वह स्थान) हमारी इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव हैं । हमारा विषय वह भगवान की इन्द्रिय है । जगत् में जो समष्टि गन्ध है वह भगवान् का घ्राणेन्द्रिय है । जाज्वल्यमान् अग्नि भगवान् का मुख है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवन्मुख में जो कुछ अर्पण करना हो वह जाज्वल्यमान अग्नि में देना चाहिये । शिशुमार स्थान में आया हुआ जो स्वर्ग है वह भगवान् का नेत्र गोलक है और सूर्य ही भगवान् के नेत्र इन्द्रिय हैं । कहीं गिरता हुआ चले वह पतंग । सूर्य अपने तेज के द्वारा सर्वत्र गिरता हुआ चलता है भगवान् का चक्षु हमारे ऊपर गिरता हुआ जाय इस लिये यह कहा है । देव मनुष्य पितृ और ब्रह्मा के जो दिन रात हैं वे यज्ञरूप क्रिया काल भगवान् के ऊपर नीचे के मिलाकर चारो पलक हैं । जिन से नेत्र का खुलना मिचना होता है । सत्यलोक में जो ब्रह्मा का स्थान है वह भगवान् का भवों का चलना है । भगवान जिस जीव पर प्रसन्न हो कर अपनी भों चलाता है वही ब्रह्मा हो कर वहां आसन जमाता है । भगवान् का तालुआ वरुण पत्नी रूप जल है और स्वाद ही जिह्वा है । रस वाले द्रव्य को कोई जिह्वा न समझ ले इस लिये यहां ' एवकार ' दिया है ।

गायत्री को आदि लेकर छन्द, भगवान् की कीर्ति का वर्णन करने वाले हैं । हजारों छन्द हैं पर उनमें सात मुख्य हैं । वेदोक्त प्रामाण्य को दिखाने को ' गृणन्ति ' क्रिया है । भगवान की दंष्ट्रा यम है । और लौकिक स्नेह-मोहादि भगवान् के दाँत हैं । प्राणियों को भूल करा देने वाली माया भगवान् का हँसना है । ' च ' से यह भी सूचना है कि भूल न करा देनी वाली भक्ति रूपा माया भी भगवान् का हास है । नित्य प्रवाह रूपा सृष्टि ही भगवान् का कटाक्ष छोडना है । लज्जा जो कि ब्राह्मणों को हीन कर्म करने पर होती है यही भगवान्

का ऊपर का ओष्ठ है । और लोभ ही नीचे का ओष्ठ है । तामसों को ही लोभ होता है । एवकार से यह भी सूचना होती है कि सात्त्विकों को लोभ नहीं होता है । ब्रह्मपुत्र नरनारायण पिता धर्म ही भगवान् का दक्षिण स्तन है । अथवा तप आदि चार चरण वाला भगवत्क्रिया रूप धर्म दाहिना स्तन है । अधर्म वाम स्तन है । अधर्म का मार्ग भगवान् का पृष्ठ भाग है ।

प्रजापति, भगवान् का मेढ़ नीचे का इन्द्रिय है । मित्रावरुणदेव भगवान् के अण्डकोष हैं । समुद्र भगवान् की कूख उदर है । पर्वत भगवान् के अस्थि समूह हैं । गङ्गादि नदियाँ भगवान् की नसें हैं । अचेतन जैसी सब सृष्टि का भी भगवान् में ही समावेश करना चाहिये इस लिये 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है । राजसलोक जो हीन कर्म करें उन्हें ये अज्ञानप्राय तामसयोनि मिलती है । देवों से लेकर इन से पहले पहले सात्त्विकजीव समझने चाहियें ।

वृक्षादि छहों प्रकार की सृष्टि इस विश्वशरीर भगवान् के रोम हैं । 'विश्वतनुं' कहने से अन्न आच्छादन (ढकन) होने से वृक्षादिका विश्वरूप में ही समावेश है । 'नृपेन्द्र' यह सम्बोधन इस लिये दिया है कि एक भी वृक्ष को काटदेने से चक्रवर्तीराजा को अपने रोमच्छेदन कर देने जैसा दुःख होता है इस अनुभव का मिलान राजा के हृदय से भी हो जाय । यह वायु अगणित पराक्रम भगवान् का श्वास लेना है । यह काल भगवान् की गति (चलना) है ।

सत्त्व रजः और तमस् जो देव पशुपक्षि मनुष्य आदि के रूप में बदल जाते हैं यह गुण प्रवाह ही भगवान् का कर्म करना है । ये मेघ समर्थ भगवान् के केश हैं । 'विदुः' शब्द से पूर्ववत् प्रामाण्य कहा है । दोनों सन्ध्या (दिनरात्रि मिलने का समय) काल रूप भगवान् के धोती उपरना हैं । सन्ध्या के विषय में जो माया पक्ष है वह यहाँ नहीं समझना चाहिये । 'कुरुवर्य' संबोधन इसी तरह के भगवान् के महत्व को बताने के लिये है । सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था प्रकृति भगवान् का हृदय है । 'आहुः' से पूर्ववत्प्रामाण्य सूचित किया है । आधिदैविक रूपचन्द्रमा, भगवान् का सर्वविकारों का खजाना मन है । जब भगवान् के मनोरूप चन्द्रमा का विकास होता है तब ही सब विकारों की उत्पत्ति होती है । समष्टिमहत्तत्त्व ही भगवान् की ज्ञानशक्ति (समझ) है । और श्रीमहादेव को सर्वात्मा भगवान् का अन्तःकरण कहते हैं । 'सर्वात्मा' कहने से अहंकार की सब जगह स्थिति बतलाई है । अश्व खच्चर ऊंट और हाथी ये भगवान् के हाथ पैर चारों अवयवों के नख हैं । वाम हस्त के नख का स्त्रियों में उपयोग होता है यह दिखाने के लिये अश्वतर में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है ।

सब मृगादि पशुवर्ग भगवान् का श्रोणि है । यह स्त्री के नितम्ब का ही नाम है । सो न होने पर भी जहां वह स्थान है वहां ये सब रहते हैं यह कहना है अथवा मृग और पशु दोनों के यह दोनों स्थान हैं । पक्षिवर्ग भगवान् का विवेक सहित आसमन्तात् करण (व्याकरण) है । 'मयूराश्चित्रिता' इत्यादि वाक्य से । मनु भगवान् की इच्छा है । और मनुष्य ही भगवान् का निवासस्थान है । गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सरावर्ग भगवान् का स्वर आलाप विशेष हैं । यह पद एकवद्भाव से सिद्ध हुआ है । प्रह्लाद ही भगवान् की स्मृति है । 'असुरानीकवीर्य' पाठ हो तो प्रह्लाद ही भगवान् का पराक्रम है ऐसा समझना । यहां समास में ही उद्देश्य विधेयभाव जान लेना चाहिये ।

ब्राह्मण भगवान् का मुख है । ब्राह्मण में ब्राह्मणपना एक भगवद्धर्म है । वह जब उसमें रहै तब तक ही वह पुरुष ब्राह्मण कहा जाता है । उसीका दूसरा नाम ब्राह्मण्य है । ब्राह्मणपना कोई जाति नहीं है । नैयायिकादि ने जो व्यक्ति के सिवा जातिपदार्थ मान रक्खा है उसी का यह खण्डन है । 'जननं जाति' का खण्डन नहीं है । तत्कृत ब्राह्मण तो सर्वदा रहता है । पर उसका भी अभिभव और प्रकाश तो होता ही रहता है यदि ब्राह्मणपन कोई जाति होती तो व्यक्ति को छोड़ कर कहीं जाती नहीं । पर मद्यपान आदि पातकों से ब्राह्मणपना चला जाता है । और ब्राह्मण व्यक्ति तो रहता ही है । और इसी लिये कहा है कि 'शूद्रां शयननमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधो गतिम् । तस्यां तनयमुत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते' । ब्राह्मण शूद्रा से गमन करके अधोगति को पहुंचता है और यदि उसके उससे लड़का पैदा हो जाय तब तो उसका वह ब्राह्मणपना ही चला जाता है । यहां लक्षणा मानने में कोई प्रमाण नहीं है । व्यर्थ लक्षणा करने का निषेध है । यदि कहो कि जैसे विश्वामित्रादि में थोडी थोडी दो दो तीन तीन जातियां मानली गई हैं इस तरह यहां अव्याप्यवृत्ति (कुछ हट गई कुछ रह गई) जाति मान लेने में क्या हानि है? तो यह भी ठीक नहीं है क्यों कि यदि विश्वामित्र में अव्याप्यवृत्ति कई जातियां होतीं तो उनका प्रकट करने वाला पृथक् पृथक् कोई धर्म तो होता ही । वह कुछ दीखता नहीं तो कैसे मान लिया जाय कि वहां अव्याप्य जाति थी । यदि कहो कि क्रोधादि नियत व्यञ्जक धर्म वहां मौजूद हैं, तो कहना पडेगा कि क्रोधादि तो दुर्वासा प्रभृति में भी मौजूद है। क्या वहां भी कई जातियां हैं?

यदि ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा होने को ब्राह्मण जाति होने का कारण मानो तो ब्रह्मा में उसके मानस पुत्रों में यह कहां है? फिर उनको वेद पढने, बोलने, कर्म करने वगैरह का अधिकार कैसे होगा? सब नाव ही औंधी हो जायगी । ऋषभदेवजी क्षत्रिय थे और उनके ८१ पुत्र ब्राह्मण हो गये । ये बात कैसे बनेगी? यदि ब्राह्मण से पैदा होना ब्राह्मण कहोगे

तो ऋषभपुत्रों में अव्याप्ति, और ब्राह्मणी में पैदा होना ब्राह्मण कहोगे तो चाण्डाल को भी ब्राह्मण मानना पड़ेगा। यदि दोनों से पैदा कहो तो ब्रह्मा के मानस पुत्रो में ब्राह्मण्य नहीं रहेगा। ब्राह्मणों के कई गोत्र ही नष्ट हो जाँयगे।

इसलिये ब्राह्मण्यादि को वैसी जाति मानने में हजारों शास्त्रवाक्यों का विरोध आता है। इस लिये ब्राह्मण्यादि जाति नहीं किन्तु एक देवता है। वह ब्राह्मण्यादि देवता जिसमें आता है वह ब्राह्मण है। अब शापादि से शूद्रत्व चाण्डालत्व और अनुग्रह से ब्राह्मणत्व हो जाता है वह ठीक बैठ जाता है। क्यो कि देवता होने से चला जाता है, आ जाता है। यह देवता उपनयनसंस्कार से देह में आता है। ऐसी अवस्था में ही 'संस्काराद्द्विज' इत्यादि वाक्यों की संगति बैठ सकती है। इसी तरह क्षत्र भी एक देवता है। विश्वामित्र में दोनों देवों का निवेश था (तृतीयस्कन्ध में भी यह विषय है)।

क्षत्रिय भगवान् की भुजा है। पहले ज्वलन्त अग्नि को भगवान् का मुख कह आये हैं तो वह वाक्प्रसवार्थ वाक् इन्द्रिय का अग्नि देवता है यह समझ लेना चाहिये। और इन्द्रादि-देवों को बाहु भी कह आये हैं और यहां क्षत्रिय को, तो वहां बाहु गोलक, और यहां रक्षा-सामर्थ्य देवता समझना चाहिये। और यहां रसभोक्तृसामर्थ्य देवता ब्राह्मण समझ लेना चाहिये। रसाधिष्ठातृ देवता वरुण है। वैश्य भगवान् की जांघ है। पहिले वितलातल को उरू कह आये हैं, इस लिये यहां स्थिति को बनाये रखनेवाली सामर्थ्य देवता पूर्व की तरह समझलेनी चाहिये। स्थितिसाधक वैश्यवृत्ति चार हैं इस लिये(विशः ऊरू यस्य)यह विग्रह कर लेना उचित है। इसी तरह शूद्रत्व भी देवता है। कृष्णवर्ण शूद्र ने जिसका आश्रय लिया है ऐसा भगवान् है। वेद रहित विद्या और कृष्णवर्ण शूद्रत्व है। कर्म दो तरह का है। स्वार्थ और परार्थ। इनमें परार्थ कर्म का निरूपण पहले 'गुणप्रवाहः' इत्यादि से कर चुके हैं। अब यहां भगवान् के स्वार्थ कर्म का निरुपण है। यह कर्म यज्ञों का विस्तार है। द्रव्यमयादि अनेक यज्ञ हैं। उन सप्ततन्तु आदि वितानों का योग रूप भगवत्कर्म, सत्र अहीन आदि में प्रकाशित होता है। इन यज्ञों के दो अङ्ग हैं, देवता और द्रव्य। यही कहते हैं कि नाना नाम वाले देवताओं की जहां पूजा होती है और अनेक द्रव्य जहां काम में लिये जाते हैं वह यज्ञ ही भगवत्कर्म है ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

एवं सर्वपदार्थानां भगवत्स्वरूपत्वायोद्देशप्रकारेण भगवच्छरीरे समावेशनमुक्त्वोपसंहरति—

जगद्वर्ती सारे पदार्थ भगवान् का ही रूपान्तर है। यह समझाने के लिये संक्षिप्त कथनके

द्वारा जगद्वर्ती पदार्थों का भगवान् के श्रीअंगमें समावेश करके अब वक्तव्य का निचोड कहते हैं: ।

इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
सन्धार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥३८॥

मूलार्थ—इस तरह से यह इतना भगवान् के शरीर का विस्तार है जो मैं ने तुम्हें कह दिया । इसी में मनकी धारणा करने की है । मनके साथ बुद्धि को भी यहां ही रखनी चाहिये । इससे परे कुछ नहीं है ३८ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

इयानसाविति । ईश्वरविहग्रस्य विराड्देहस्य सन्निवेशः अवयवविन्यासप्रकारः इयानेतावानेव । नाऽधिको विन्यासोऽस्तीत्यर्थः । असौ अयमेव विन्यासो न त्वन्योऽपि विन्यासोऽस्ति । अथवा । असौ प्रकृतरूपो विन्यास इयानेतावान् आनन्दमयस्य त्वन्यः । स उत्तरत्र वक्ष्यते । अत्र पदार्थानां विनिवेशस्योद्देशप्रकरणत्वान्नाऽस्माभिर्विवरणमुक्तम् । अग्रे विमर्शे वक्तव्यत्वात् । एवं निवेशकथनस्य प्रयोजनमाह —**सन्धार्यत इति** । अस्मिन्नेव वपुषि सर्वैर्योगिभिर्मनः सन्धार्यते । योगाङ्गधारणाविषयोऽयमेव क्रियते । स्थविष्ठ इति पूर्ववत् । वं सुखं पुष्णातीति वपुर्देहापरपर्यायः । तुल्यार्थत्वादस्याऽप्यर्थस्तत्रैवोक्तः । स्वबुद्ध्या आत्मबुद्ध्या आत्मरूपत्वेन । अन्यथा सर्वप्रवेशो न स्यात् । परमभक्तिराकाङ्क्षाभावश्च न भवेत् । फलञ्च । भोगोऽतिक्रमश्च न भवेत् । एतस्मिन् धारणाविषये जाते कुत्र धारणा कर्तव्या कुत्र नेत्यादिसन्देहा गच्छेयुः । यतो—**यतो न यतोऽस्ति किञ्चित्** । यस्माद्रूपादन्यद्भिन्नं किमपि नास्ति ॥ ३८ ॥

भावबोधिनी भाषा टीका ।

विराट् भगवान् के श्रीविग्रह का अवयवस्थिति प्रकार इतना ही है । इससे अधिक विन्यास नहीं है और इसके सिवाय अन्य विन्यास भी नहीं है यही विन्यास है । अथवा विराट् स्वरूपका यह अवयवस्थिति का प्रकार तो इतना ही है । किन्तु आनन्दमय भगवान् का विन्यास भिन्न है उसे हम आगे कहेंगे । यहां पदार्थों का सन्निवेश संक्षिप्त कथनरूपसे है हमने भी विशेष विवरण नहीं किया है । आगे विमर्शाध्याय में कहना है ही । इस तरह से विराट्का अवयवविन्यास क्यों कहा, इस का उतर देते हैं कि सब योगिवर्ग अपने मन को इसी विराट् के स्थूल शरीर में लगाते हैं । योगाङ्गधारणा का विषय इस स्थूलविग्रह को ही बनाते हैं । सुख को जो पुष्ट करे उसे 'वपुः' शरीर कहते हैं । विमर्शाध्यायमें इसका भी विवरण कर दिया जायगा । मनको लगाते समय सर्व पदार्थों में भगवान्पने की बुद्धि रक्खै । यदि सब में आत्मरूपता की बुद्धि न रक्खी जायगी तो सबका भगवान में प्रवेश न होगा । आगे परमभक्ति (प्रेम) न होगी । सर्वत्र अपेक्षा का अभाव न होगा । सायुज्यादिफल भी न होगा ।

और सर्वपदार्थों का यथार्थभोग और चण्डिकादि खण्डस्वरूपातिक्रम भी न होगा। विराट्-भगवान् को धारणा का आधार बनाने से धारणा कहां करनी चाहिये और कहां नहीं? यह प्रश्न ही समाप्त हो जायगा क्यों कि इस भगवद्रूप के सिवाय अन्य कोई पदार्थ ही बाकी नहीं है ॥ ३८ ॥

साधारणानां पञ्चप्रश्नेषु कर्त्तव्यमध्य एव श्रोतव्यस्मर्त्तव्ययोरनुप्रवेशान्नामानुकीर्त्तनेनैव जपस्योक्तत्वात्कर्त्तव्यमध्य एव कर्त्तव्यस्य प्रवेशाद्वैकल्पिकपक्षत्वाच्चाऽन्येषां भजनीयप्रश्नोऽवशिष्यते। तमाह—

साधारणों के पांच प्रश्नों में से श्रोतव्य और स्मर्तव्य का, अवश्य कर्त्तव्य में ही समावेश हो गया है, कीर्तनके कहने से जप तो अपने आप आ ही जाता है और कर्त्तव्यका भी कर्त्तव्य के निरूपण में ही निरूपण हो चुका अब बाकी रहे प्रश्न वैकल्पिक हैं अत एव उनके उत्तर देनेकी इतनी अपेक्षा नहीं। पर उसी में 'भजनकरने लायक' कौन है? यह आया है, अत एव इसका उत्तर देना आवश्यक है। सो देते हैं:—

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नाऽन्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः॥ ३९॥

मूलार्थः—जैसे स्वप्नके पुरुषादि पदार्थों को सबकी बुद्धि वृत्ति द्वारा देखने वाला आत्मा एक है इसी तरह सब की बुद्धि वृत्ति द्वारा सब का भोग करने वाला भगवान् सत्य संकल्प आनन्दनिधि सर्वात्मा एक ही है। बस उसी का भजन करना चाहिये। भगवान् के सिवाय अन्य में आसक्ति न करै। अन्यथाचरण से आत्मा (अपनपा) नीचे गिर जाता है। इस लिये एक आनन्दनिधि भगवान् का ही भजन करै॥ ३९॥

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व इति। योऽत्र धारणाविषयत्वेनोक्तः सर्वात्मपदेन च श्रोतव्यविषयतावच्छेदकवाचकेन निरूपितो यस्य विवरणार्थमयं सन्निवेशो निरूपित स एव श्रवणादिना भजनीयः। श्रवणादिना भगवत्सन्निधाने गत्वा तत्सायुज्यं वा प्राप्य साक्षात्तमेव भजेत्। अन्यत्र फले साधनान्तरेणाऽनेन वा साधनेनाऽऽसक्तः स्वस्थानादपि पतेत्। यस्यामवस्थायां तिष्ठति ततोऽपि पतेत। अनेन प्रथमं फलार्थं भवतु पश्चात्तदर्थमपीत्यपि पक्षो निवारितः। नन्वस्य फलत्वं भजनीयत्वं वा कथम्? तत्राऽऽह—**आनन्दनिधिमिति**। भजनीयं फलमेव। साधनस्य पुरुषशेषत्वात्। यद्यपि फलमपि पुरुषशेषः। तच्च पुरुषानुभवविषयत्वादनुभवरूपत्वाद्वा। तथापि रसत्वेन रसप्रधानत्वेनैव भोगे रसिकता भवतीति फलं सेव्यम्। तच्च परमानन्दः सोऽपि न गणनया प्राप्तो ब्रह्मणि स्थितः परिमितत्वात्। किन्त्वानन्दनिधिः। आनन्दो नितरां धीयतेऽस्मिन्निति पूर्णानन्दो भगवानेव सेव्यः। आनन्दपोषस्योक्तत्वात्तस्य तिरोभावमाशङ्क्याऽऽह—**सत्यमिति**। ननु फलान्तरविषये चित्तसद्भावे किं विधेयम्। "**उद्यत्तस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यत**" इति न्यायात्। तत्राऽऽह—**सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व इति**। सर्वधीवृत्तिभिः सर्वेषां सर्वज्ञानजनकेन्द्रियवृत्तिभिरनुभूतं सर्वं येन। यत्किञ्चित्फलं येन केनचिदुपभोग्यं तत् तदिन्द्रियद्वारा अनेनैवोपभोग्यम्। अतः स्वरूपतोऽस्माद्यथा अन्यन्नाऽवशिष्यते तथा फलमपि। एतदनुपभोग्यं फलञ्च

नाऽवशिष्यते। ननु कथमस्य भोक्तृत्वम्। तत्तदधिष्ठातॄणां विद्यमानत्वात्। तत्राऽऽह—**आत्मा यथेति**। तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातॄणां दिगादीनां विद्यमानत्वेऽपि यथा आत्मा सर्वेन्द्रियानुभूतसर्व एवं भगवानपि तमप्येकदेशाभिमानिनमविगणय्य तेनाऽधिश्रितैरेवेन्द्रियैः सर्वमनुभवतीत्यर्थः नन्वात्मनः इन्द्रियाधिष्ठातृणामप्रतीतत्वादात्मीयत्वेनैवेन्द्रियाणां ग्रहणात्तस्य स्वगृहीतमात्रानुभवो भवतु नाम। भगवतस्तु समष्टिरूपस्य व्यष्टिषु देहस्थितकीटेष्विव प्रतीत्यभावादात्मीयत्वाभावाच्च तदिन्द्रियाणां कथं सर्वधीवृत्तिभिर्भगवाननुभवति ? तत्राऽऽह—**स्वप्नजनेक्षितैक इति**। स्वप्नजनानामीक्षिता द्रष्टा यथैकः। स्वप्नस्य मायिकत्वेऽपि ज्ञानं न मायिकम्। तस्याऽऽत्मरूपत्वात्। तत्र स्वप्नद्रष्टारः पुरुषाः सर्वं पश्यन्तीति प्रतीतिरस्ति। तत्र पुरुषदेहानां मायिकत्वं न्यायसिद्धम्। तथापि तन्निष्ठा या प्रतीतिः सा न मायिकी। तत्र चैतन्यान्तराभावाद्भगवतो वा जीवस्य वा चैतन्यं भवति। स्वस्याऽपि द्रष्टृत्वाभावादिन्द्रियाणां गोलकाभावेन प्रदर्शनासामर्थ्याद्गोलकस्य च स्वाप्नस्य च मिथ्यात्वाद्भगवानेव पश्यतीति युक्त्याऽध्यवसीयते। निद्रावशाच्च तेन सह भेदो न स्फुरति। तथान्यत्राऽपि स एव पश्यतीत्यध्यवसीयते स्वप्नदृष्टान्तेन। ततस्तेषु देहेषु जीवसद्भावे असद्भावे वा भगवानेव द्रष्टेति निश्चीयते। तस्य चास्मदिन्द्रियगोलकापेक्षा नास्ति। देवतानामेव गोलकत्वात्। विषयस्य चेन्द्रियत्वात्। विषये चास्मदादीन्द्रियलयात्। कारणलयपक्षेऽपि वासनया तत्र विषय सद्भावात्। कारणस्याऽलये लीनानामपि प्रकाशसम्भवाल्लयाङ्गीकारे गौरवाच्च विषय एव लयोऽङ्गीकर्त्तव्यः। अन्यथा निद्राया अव्यवधायकत्वात्पुनरुद्बोधः कथं क्रियेत। अहङ्कारस्त्वाभ्यासरूप इन्द्रियवल्लीयते। न त्विन्द्रियकारणभूतः। तथा सति पुनः सृष्ट्यभवान्नोत्पद्येरन्। अतो विषयलीनानीन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियलीनानि भवन्ति। अतः स्वप्नद्रष्टुर्विचारे क्रियमाणे यथा सर्वं व्याप्य सर्वेषामात्मा भूत्वा सर्वं पश्यतीति निश्चयः। एवं जागरणावस्थायामपि तत्तद्विषये प्रविष्टानीन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियप्रवेशाद्भगवज्ज्ञानसाधकानि भवन्ति अन्यथा भगवत इन्द्रियातिरिक्तस्य विषयस्याऽभावात्किं गृह्णीयात् तत्रेन्द्रिये सम्बन्धमात्मानं गृह्णन्नपि वेद्यत्वाकाङ्क्षायामात्मानोऽवेद्यत्वात्परेन्द्रियवेद्यत्वेनेन्द्रियस्यैव वेद्यत्वं सम्भवति। अतोऽप्यस्मदिन्द्रियापेक्षा। स च सर्वत्रैकः। भेदकप्रमाणाभावात्स्वप्नदृष्टान्तेन व्यावर्त्तकानामव्यावर्त्तकत्वात्। अतस्तेनैव सर्वभोगसिद्धौ पुनर्यत्नान्तरेण भोगो न साधनीयः। आत्मनः पातसम्भवाच्च। देहस्थितकीटेषु तु स्वस्य सर्वात्मभावतिरोभावाज्जीवत्वाद्वा न स्फुरणमिति सर्वमविवादम्॥ ३९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

भाषाटीका भावबोधिनी।

इस अध्याय में, जिसे इस ब्रह्माण्डशरीर में, धारणा का विषय बता चुके, सर्वात्मापद से श्रवण करने योग्य कह चुके और आगे जिसके विवरण करने के लिये ये प्राक् भव सान्निवेश कहा है वह भगवान ही श्रवण कीर्तनादि के द्वारा भजन करने लायक है, अन्य नहीं। श्रवणादि भक्तिपर्यन्त के अन्तरङ्ग उपाय के द्वारा व्यवसायात्मिका बुद्धि से उस भगवान् के अतिसमीप पहुँचकर किंवा अत्यनुग्रह होने पर भगवान् का सहयोग प्राप्त करके साक्षात्पुरुषोत्तम का ही भजन करे। अन्य साधनों के द्वारा अन्यफलों में, किंवा इन साधनों को करता

हुआ भी स्वर्गादि अन्य फलों में कभी आसक्त न होवे । जो आसक्त हो जाय तो जिस अवस्था तक पहुँच गया है उस स्थान से भी नीचे गिर जायगा । इस से यह कहना है कि भगवत्प्रेम होने के पहिले कदाचित् भगवान् को फल मान कर उसकी आकांक्षा रखकर भजन करता रहै पर भगवान् में आसक्त होने के बाद तो भगवत्फल की भी आकांक्षा न रक्खै । वह अवश्य मिलेगा यह बात दूसरी है पर स्वयं फलकांक्षा न रक्खे ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जो भजनीय है वह फल कैसे हो सकता है ? भजनीय भजन का विषय, वही फल कैसे ? इस के उत्तर में कहते हैं कि 'आनन्दनिधिम्' भजनीय भी फल होता है, क्यों कि साधन भी तो पुरुष के लिये हीं बनाये गये हैं । यद्यपि फल भी पुरुष के अनुभव का विषय होने से किं वा अनुभव ही होने से पुरुषशेष कहा जा सकता है, तथापि रसरूप होने से किं वा रसप्रधान होने से भोग करने में रसयिता को आनन्द आता है इस लिये फल की भी सेवा की जा सकती है ।

यह भजनीयफल परमानन्द पुरुषोत्तम भगवान् हैं । वह भी सम्भावितगणना से प्राप्त हुआ अक्षरानन्द नहीं । क्यों कि वह संभावना से ही सही, पर परिमित हो चुका । किन्तु यह आनन्द का निधि है । जिस में आनन्द अपरिमित रूप से धरा रहता है वह आनन्दनिधि है । पूर्व में आनन्द का पोषण कह चुके हैं इसलिये उसी तरह इस के तिरोभाव की भी आशङ्का होती है । इसलिये कहते हैं 'सत्यम्, ' वह सर्वदा पूर्ण का पूर्ण ही रहने वाला है । यदि कोई कहै कि 'छद्मस्यहि' स्वतः प्राप्त हुए सुख का निषेध करना प्रशंसनीय नहीं है' इस न्याय से अन्य फलों के तरफ चित्त चला जाय तो फिर क्या किया जाय ? इस के उत्तर में कहते हैं कि 'स सर्वधी' इत्यादि । जीवमात्र के ज्ञानेन्द्रियों की जो वृत्तियां हैं उनसे यह भगवान् सबका अनुभव करता रहता है । जगत् में जो कुछ भी फल जिस जिस का भोग्य होता है उस सब फल का यह भगवान् ही उनकी ही इन्द्रियों के द्वारा आप भोगता रहता है । इस लिये जैसे सारा जगत् इसके स्वरूप में ही आरहा है इसी तरह सारे फल भी इस आनन्दनिधिफल में ही समा रहे हैं । जीव को जब इस आनन्दनिधि का भोग करना है तब इस भोग में ही अन्य फलों का भोग भी अपने आप आ जायगा ।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि सब फलों का भोक्ता भगवान् कैसे ? उन उन ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता जब मौजूद हैं वे तो भोग करेंगे । इस के उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मा यथा' जैसे अपना अपना व्यष्टि आत्मा । तत्तदधिष्ठाता देवताओं के रहते भी जीवात्मा तत्तदधि-

ष्ठातृ देवताओं में घुसकर या तद्रूप ही होकर जैसे सब फलों का भोग करता रहता है इसी तरह भगवान् सर्वव्यापक है । अत एव एक स्थानमात्र के अभिमानी देव की परवाह रक्खे बिना ही उस के अधीन इन्द्रियों के द्वारा ही सब का अनुभव कर लेता है ।

यहाँ एक यह आशङ्का होती है कि इन्द्रियाधिष्ठातृ देवों को देहात्मा की प्रतीति नहीं होती इस लिये इन्द्रियों को वह आत्मीयरूप से ग्रहण करता है और उसे अपने ज्ञान से ही सब का अनुभव हो यह ठीक है । किन्तु समष्टिरूप भगवान् को हमारे देहादि का अभिमान न होने से समदृष्टि होने से देहस्थित कीटों में जैसे प्रतीति नहीं होती और आत्मीयता की भी प्रतीति नहीं होती इसलिये उन की सर्व इन्द्रियों से सब का अनुभव होजाता है यह कैसे माना जाय ? इस के उत्तर में दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि ' स्वप्नजनेक्षितैकः । ' स्वप्न के मनुष्यों का देखने वाला एक ही है । उसे यह मालूम पड़ता है कि सैकडो आदमी एक दूसरे का अनुभव कर रहे हैं । यद्यपि स्वप्नदृष्ट पुरुषादि असत्य हैं तथापि ज्ञान असत्य नहीं हो सकता । ज्ञान तो आत्मस्वरूप होने से मायिक नहीं पर सत्य है । स्वप्न में यह ज्ञान तो हो रहा है कि ये स्वाप्निकपुरुष मुझे देख रहे हैं वगैरह । देहों के मायिक होते भी तन्निष्ठज्ञान मायिक नहीं है । अब यहाँ एक चेतन के सिवा दूसरा चेतन है नहीं । तब या तो वह चेतन भगवान् का हो किं वा स्वात्मा का । उस में भी जीवात्मा का चैतन्य तो उन पुरुषों का ज्ञान हो नहीं सकता क्यों कि स्वप्न-द्रष्टा जीव को उन देहों का अभिमान ही नहीं है तो फिर मेरा चैतन्य ही देखरहा है यह प्रतीति कैसे हो सकती है ? और उस समय स्वाप्नदेह के मिथ्या होने से इन्द्रियां और गोलकों का अभाव होने से प्रदर्शन सामर्थ्य भी नहीं कर सकते, तो अब युक्ति से यही मानना पडेगा कि भगवान् ही सब को और सब होकर देख रहा है । निद्रावश होने से भगवान् के साथ हमें भेद की प्रतीति नहीं होती । जो यहाँ युक्ति है वही अन्यत्र भी हो सकती है ।

जाग्रदादि में भी स्वप्नदृष्टान्त को लेकर कह सकते हैं कि सर्वत्र वही सब को देख रहा है । जड देहादि में आत्मा रहै या न रहै पर द्रष्टा भगवान् ही है । उसको सब को सब के द्वारा अनुभव करने में हमारे इन्द्रियगोलकों की अपेक्षा नहीं है । क्यों कि अधिष्ठातृगण देव ही उस के गोलक हैं । यह ' इन्द्रादयो बाहव ' इत्यादि में कह चुके हैं । और विषय ही परमात्मा के इन्द्रिय हैं । यह बात भी ' अव्यक्तमाहुर्हृदयं ' इत्यादि से समझा चुके हैं । विषयों में हमारे इन्द्रिय लीन हो ही रहे हैं । तो अब उस की इन्द्रियों में हमारी इन्द्रिय भी समा रही हैं ऐसी अवस्था में हमारी इन्द्रियों से ही वह सब का अनुभव कर रहा है इस हमारे पूर्व कथन में किसी तरह का विरोध नहीं है ।

कार्य अपने कारण में लीन होते हैं इस पक्ष में भी वासना के द्वारा वहाँ विषय की सत्ता है। कारण का लय हुआ नहीं है इस लिये इस पक्ष में भी उनका प्रकाशित रहना सम्भव है। यदि कहो कि कारण का भी लय हो चुका है तो इस में गौरव होगा। इसलिये विषय में ही इन्द्रियों का लय मानना उचित है।

यद्यपि सुषुप्ति की तरह स्वप्न में भी इन्द्रियां अपने इन्द्रियपन के अभावरूपत्याग से विषय में प्रवेश करते हैं और उस समय विषय रहते नहीं तो फिर सर्व का अनुभव कैसे होगा यह शंका बनी ही रहती है, तो इस के उत्तर में कहते हैं ' अन्यथेति । ' यद्यपि कहना ठीक है। तथापि जाग्रत् अवस्था में उन इन्द्रियों से विषयों का अनुभव हो चुका है इस से यह तो निश्चय होचुका है कि इन्द्रियों का बिलकुल अभाव तो नहीं ही हुआ है इसलिये स्वाप में विषयों में प्रवेश करगये हैं तो भी इन्द्रिय भाव से ही प्रवेश किया है, ऐसी अवस्था में भगवान् उन का इन्द्रिय भाव से उपयोग कर सकता है। हाँ इतना अवश्य फरक है कि स्वप्न में वह स्वेन्द्रियरूप से ग्रहण करता है और जाग्रत् में परेन्द्रियस्वरूप से। ऐसी अवस्था में वह भगवान् स्वप्न में अपनी निज इन्द्रियों से स्वाप्नसृष्टि और अस्मदादि के आत्मा का भी अनुभव करता है।

यदि कहो कि अहंकार अभेद का व्यावर्तक है तो कहते हैं कि इन्द्रियकारणभूत अहंकार को छोडकर जो अहंकार आत्मा का अध्यास (भूल) रूप है वह तो इन्द्रियों की तरह लय को प्राप्त होजाता है। इसलिये विषयेन्द्रियैक्य में कोई व्यावर्त्तक न होगा। इसलिये अब मानना पडेगा कि विषय में लीन अस्मदादि इन्द्रिय भगवदिन्द्रियों में लीन हो चुके हैं। अब स्वप्न दृष्टाका जब विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि जैसे स्वप्नमें भगवान् सब में व्याप्त होनेसे सब का आत्मा होकर सबका अनुभव करता रहता है। इसी तरह जाग्रत् में भी उन उन विषयों में प्रविष्ट अस्मदादि इन्द्रियां भगवदिन्द्रियों में प्रवेश कर जाने से भगवान् के ज्ञान का साधन बन जाती हैं। यदि ऐसा न होता तो भगवदिन्द्रियरूप विषय को छोडकर अन्यविषय का स्वप्न में अभाव होने से किसका अनुभव होसकै ? अर्थात् स्वप्न में कुछ न दीखै।

स्वप्न के विषय होने से स्वेन्द्रिय सम्बद्ध अस्मदादि के आत्माओं का भी अनुभव करते रहते भी वास्तव में पर का आत्मा परेन्द्रियवेद्य होने से अस्मदात्मा अवेद्य ही है इस लिये भी इन्द्रियों को ही वेद्यता आती है, और इसी लिये अस्मदादि की इन्द्रियों की अपेक्षा है।

वह भगवान् तो, क्या स्वप्न और क्या जाग्रत् सर्वत्र एक है। उसको जुदा जुदा सिद्ध

कर सकै ऐसा कोई प्रमाण नहीं, और व्यावर्तक अव्यावर्तक हो चुके हैं। इस लिये भगवान् के द्वारा ही जब सब का भोग होना सिद्ध है तो फिर अन्य अनेक यत्न करके भोग की सिद्धि करनी उचित नहीं है। ऐसे यत्न से आत्मा का नीचे गिरना सम्भव है। यदि कोई कहे कि विषयों में इन्द्रियों के लीन होने से और व्यावर्तको के अव्यावर्तक बन जाने से देहास्थित कीटों का अनुभव क्यों नहीं होता तो इसका उत्तर यह है कि अभी आत्मा का सर्वात्मभाव तिरोहित है अथवा जीवपना मौजूद है। इस लिये अनुभव नहीं होता ॥ ३९ ॥

इति श्रीवल्लभाधीशचरणानुरक्तदेवर्षिरमानाथकृत द्वितीयस्कन्धसुबोधिनीप्रथमाध्याय का हिन्दी भाषान्तर सम्पूर्ण हुआ।

॥ श्रीहरिः ॥

भागवतार्थद्वितीयस्कन्धनिबन्धे ।

प्रथमाङ्गतत्त्वध्याननिरूपणे—

प्रथमद्वितीयाध्यायार्थौ स्थूलध्यानसूक्ष्मध्याने प्रथमं निरूप्येते ।

भावबोधिनी टीका ।

श्रीसुबोधिनी और भागवतार्थ निबन्ध दोनो मिलाकर श्रीमद्भागवत का एक अर्थ है, यह सुबोधिनी के प्रारम्भ में कह चुके हैं । द्वितीयस्कंध भागवत की प्रथमाध्याय सुबोधिनी का भाषान्तर कर दिया तो अब द्वितीयस्कंध निबन्ध के प्रथमाध्यायार्थ का भाषान्तर भी यहां ही कर देना उपयुक्त होगा, यों समझ कर भागवतार्थनिबन्ध के द्वितीयस्कंध निबन्ध की प्रथमाध्याय का भाषान्तर यहां करता हूं । स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ और अध्यायार्थों का निरूपण करने से पहले श्रीवल्लभाचार्यचरण प्रथमस्कन्ध और द्वितीयस्कन्ध की अन्तरङ्ग सङ्गति बताने के लिये प्रथमस्कन्ध के अन्त में सिद्ध अर्थ का अनुवाद करते हैं ।

उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः ।
अध्यायदशकैस्तत्र साङ्ग श्रवणमीर्यते ॥ १ ॥

प्रथमस्कन्ध के अन्तिम उत्तम प्रकरण में, अर्थात् श्रीशुकपरीक्षित संवाद में उत्तमाधिकारी राजा परीक्षितने उत्तमवक्ता श्रीशुकदेवजी से यह प्रश्न किया कि (मरते समय क्या करना चाहिये, और सर्वथा क्या करना चाहिये ।) ' सर्वथा क्या करना चाहिये ' इस प्रश्न मे ही सब कुछ आजाता है यों समझकर ही श्रीशुकदेवजी ने प्रथमभाग का उत्तर न देकर प्रश्न के परभाग का उत्तर दिया कि ' उत्तमवक्ता मिलने पर साङ्ग श्रवण करै, बस यही सर्वात्मना कर्तव्य है । साङ्ग कहने से अङ्गों का निरूपण प्रथम प्राप्त है । इसलिये तृतीयादिस्कन्धों के पहले इस द्वितीयस्कन्ध में प्रधानतः श्रवण के अङ्गो का निरूपण है । अत एव द्वितीयस्कन्ध का नाम श्रवणाङ्गस्कन्ध है । इस के दश अध्याय हैं । जिनका विषय विभाग आगे कहेंगे । अङ्गो के निरूपण में अङ्गी श्रवण का भी निरूपन तो अपने आप आही जाता है । क्यों कि अङ्गी के बिना अङ्ग अनुपपन्न है । अङ्गी मुख्य है । अङ्ग गौण हैं । इस श्रवणका विषय भगवान् है यह ' **तस्माद्भारत** ' इस श्लोक में कहदिया है । वह भगवान् दो प्रकारका

है अनुष्ठेय और प्रमेय। उन में पहला अनुष्ठेय भगवान्, साङ्गश्रवणरूप सामान्य है। और दूसरा प्रमेय भगवान् दशलीलायुक्त विशेष है। भगवत्त्व सामान्य है, और दशलीलायुक्तत्व विशेष बात है इसलिये। श्रीमद्भागवत भगवच्छास्त्र है अत एव उस का अर्थ, सपरिकर भगवान् शास्त्रार्थ है। यह शास्त्रार्थरूप सपरिकर भगवान् प्रथमस्कन्ध से लेकर द्वादशस्कन्ध पर्यन्त सारे भागवतशास्त्र में अनुस्यूत है, प्रतिपादित है। और इसी लिये इस द्वितीयस्कन्ध में भी है ही। अब यहां तो स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, और अध्यायार्थों का विशेषरूप में निरूपण करना है।

प्रथमस्कन्ध का अर्थ भी त्रिविध अधिकाररूप सामान्य भगवान् है, वह कर्ता का शेष (अङ्ग) है। अधिकार कर्ता के लिये ही है अत एव शेष है। श्रवणकर्ता और कीर्तनकर्ता दोनो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के हैं, यह अधिकार की कर्तृशेषता। अब द्वितीयस्कन्ध का अर्थ श्रवणाङ्गरूप भगवान् है, वह भी श्रोता ओर वक्ता का सहकारी है तथापि फलका शेष (अङ्ग) है। तत्त्वध्यानादि यदि साथ में होंगे तो पूर्णफल मिलेगा, अन्यथा नहीं। यह फलाङ्गता है। इस के आगे सर्ग विसर्ग आदि दश अर्थ तृतीयादिस्कन्धोंके हैं, वे सब श्रवणस्वरूप के अङ्ग हैं। इस तरह भागवतके अनुष्ठेयरूप शास्त्रार्थ की दृष्टि से सब स्कन्धार्थों की, शास्त्रार्थ के प्रति हेतुरूपा सङ्गति है। और सब स्कन्धार्थों की आपस में एक कार्यरूपा सङ्गति है। अर्थात् पृथक् पृथक् स्कन्धो के अर्थ, पृथक पृथक रहकर भी एक सङ्गति में पुहकर जब एक ही अर्थ का निरूपण करैं तब वह शास्त्रार्थ पूर्ण कहा जाय। दशलीलायुक्त भगवान् के, दश स्कन्धार्थ सर्ग विसर्ग आदि हैं। ये सब उस के अङ्ग हैं सही, किन्तु जब ये सब एकार्थ संगत होकर, अङ्गी (भगवान्) में समन्वित होते हैं तब भागवतशास्त्र का एक अर्थ श्रीकृष्ण भगवान् पूर्ण हो जाता है। इस से यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भागवत में कर्तव्यरूप भगगवान् का श्रवण ही महावाक्यार्थ है। अर्थात् श्रीमद्भागवतरूप महावाक्य में दशलीलायुक्त भगवान् का श्रवण है। श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धो में पृथक् पृथक् पूर्वोक्त अर्थ रह कर भी भागवतरूप शास्त्र का, सर्व समन्वित सामान्य एक अर्थ, भगवच्छ्रवण तो है ही। ये सामान्य विशेष बात प्रत्येक स्कधो में समझ रखनी चाहिये।

अब यहां अपने आप यह जिज्ञासा होती है कि यह सर्व स्कन्ध समन्वित भगवच्छ्रणरूप, सामान्य शास्त्रार्थ क्या वस्तु है? अर्थात् श्रवण किस को कहना चाहिये? इसका उत्तर श्रीमद्वल्लभाचार्य चार कारिकाओ में देते हैं।

शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्ययोः। तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चाङ्गमुच्यते ॥२॥
श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः। वक्तव्या वासुदेवस्य, तदर्थमपरा कृतिः ॥ ३ ॥
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः। अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये ४
कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः। गुणातीतस्वरूपत्वे निर्गुणः श्रुतिनिर्णयः ॥ ५ ॥

भावबोधिनी भाषाटीका ।

पद और वाक्यों की शक्ति और उन के तात्पर्य का निर्णय करलेना ही (**सुनना मात्र नहीं**) श्रवण कहा जाता है । अनन्तपदों की एक भगवान् मे ही शक्ति है और उसी मे सब का तात्पर्य भी है। घट पद आदि जितने भी कोई अनन्त पद (शब्द) हैं, वे सब ॐकार से ही बने हैं । और प्रणव का मुख्य अर्थ भगवान् है । अत एव जगद्वर्ती सब ही शब्दों का वास्तविक अभिधेय(अर्थ) भगवान् है। यही शक्ति और तात्पर्य का निर्धार है । असंकोच सहज स्वरूपा, पद की शक्ति यही है कि उनके उच्चारणानन्तर स्वाभाविक रीतिसे भगवान् का ही बोध होजाना यही शक्तितात्पर्य निर्धार है, और इसे ही श्रवण कहते हैं । वाक्य में तात्पर्य का निर्धार होता है । इस वाक्य का यह तात्पर्य है, इत्यादि। वाक्य भी अनन्त हैं । उन सब का भी वास्तविक सहज तात्पर्य भगवान् है । शास्त्रों के सब ही वाक्य भगवान् को ही कहते हैं । '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' इस तरह से घट पट आदि सब पद और '**देवदत्तो गच्छति**' आदि सब वाक्यों का वास्तविक अर्थ भगवान् है, इस शक्ति निर्धार और तात्पर्य का निर्णय सामान्यरीति से कर देना यह द्वितीयस्कन्ध का एक अर्थ है । सुनकर पदवाक्योंमें इस तरह शक्तितात्पर्य का निर्णय कर लेना ही श्रवण कहा जाता है । सब शब्द और सब ही वाक्य भगवान् का ही निरूपण करते हैं, यह निर्धार द्वितीयस्कन्ध में किया गया है । इस लिये द्वितीयस्कन्धके सुनलेने से यह निश्चय हो जाय कि सब शब्द और सब वाक्यों का अर्थ भगवान् है तो बस समझ लेना चाहिये कि द्वितीयस्कन्ध का श्रवण कर लिया । सर्व निर्णय निबन्ध में वैयाकरणों की पद्धति से वाक्य मे भी शक्ति का निर्णय किया है इस लिये पद और वाक्यों में (दोनो में) शक्ति और तात्पर्य का मानना, यह भी एक पक्षान्तर है ।

अब इस श्रवणके कौनसे कौनसे अङ्गहैं, इस प्रश्नका उत्तर देतेहैं कि '**तत्त्वध्यानम्**' आदि। यहां '**तत्त्वध्यान**' और (तत्रध्यान) ये दोपाठ प्रचलित हैं । पहला पाठ स्वतन्त्र शुकाभिप्रेतहै । परन्तु दूसरा पाठभी आदरणीयहै । भगवदीय है और अन्य संमत रहकरभी श्रीशुकदेवको अभीष्ट है । प्रथमध्यान (स्थूलध्यान) को ध्येयरखकर '**तत्त्वध्यानं**' पाठहै । और द्वितीयध्यान (सूक्ष्मध्यान) को लेकर '**तत्र ध्यानं**' पाठ है द्वितीयस्कंधके प्रथमाध्यायमें उपाङ्गोंके निरूपणके अनन्तर जो '**विशेषस्तस्यदेहोयं**' इत्यादि श्लोकोंमें '**तत्त्वध्यान**' कहाहै । यह प्रथमध्यान या स्थूलध्यान कहा जाता है । यहध्यान सामान्यजनताके उपयुक्त होनेसे दयालु श्रीशुकको प्रधानतया स्वीकृतहै । और द्वितीयाध्यायमें भी उपाङ्ग निरूपणके बाद '**केचित् स्वदेहान्तः**' इत्यादिश्लोकोंमें जो भगवत्स्वरूपध्यान है, वह द्वितीयदध्यान या सूक्ष्मध्यान कहाजाताहै । '**केचित्**' शब्दके होने से वह अन्याभिप्रेतरहकर भीशुकाभिप्रेतहै । त्याज्य नहीं है । यदि त्याज्य होता तो श्रीशुकदेवजी इसका संग्रहही क्योंकरते । एक दूसरी बात और भी है । पहले ध्यानमें प्रकार दूसरा है । और दूसरे ध्यानमें भी प्रकार दुसरा है। इसलिये दोनो ध्यानोमें प्रकारों का भेद होनेसे दूसरा ध्यानभी संग्राह्यहै । प्रथम ध्यानमें अङ्गों (पृथिवी-

आदि) को प्रधान रखकर अङ्गी का ध्यान करने कहा है । और दुसरे ध्यानमें अङ्गी का प्रधान और अङ्गोंका गौण निरूपणहै । दोनो ध्यानोमे वस्तु (ध्येय भगवान्) एकही है पर प्रकार भिन्न भिन्न हैं । इसलिये '**तत्र ध्यानं**' यह पाठभी संग्राह्य है ।

तत्त्वध्यान चित्तशुद्धि और मनन ये तीन श्रवणाङ्ग हैं । तत्त्वध्यान सहित स्वरूपध्यान श्रवणमें अपेक्षित है । जिसे अङ्गसहित अङ्गीका ज्ञान या ध्यान नहींहै, वह भगवान् का श्रवण क्या करैगा और करेगा तो हृदय पर ठहरेगा नहीं । और चित्तकी शुद्धि (निर्मलता) भी श्रवण करते समय अपेक्षित है। जिसका चित्त निर्मल नहीं वह श्रवण भी क्या करैगा । और इसी तरह श्रवण कर्ता को मननकी भी आवश्यकता है । युक्तियों के द्वारा पुनः पुनः अनुचिन्तन (विचार) को मनन कहते हैं । इस लिये ये तीनो श्रवणा के अङ्ग कहे गये हैं । हृत्प्रसाद चित्तशुद्धिको कहते है । '**अन्तकाले तु**' से प्रारम्भकर '**मनः सन्धारयेद्धिया**' पर्यन्त प्रथमध्यानमें, और '**एवं पुरा**' से प्रारम्भकर '**स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणं**' पर्यन्त द्वितीयध्यानमें हृत्प्रसादका निरूपण है । और तीसरा अङ्ग मनन है । विमर्श (विचार) ही मनन कहाजाता है । यह विमर्शभी दो प्रकारका है । प्रथमध्यान विमर्श, और द्वितीयध्यानविमर्श । ध्यान के प्रकारों के अनुसारही विमर्शकाभी प्रकार हैं । प्रथम ध्यानका विमर्श चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ अध्यायोंमें है और द्वितीयध्यानका निमर्श सप्तम अष्टम नवमाध्यायों मे है । इन सब बातों का खुलासा, हम भागवत सुबोधिनी का भाषान्तर करते समय उन उन प्रकरणों मे ही करते जावेंगे ।

अब श्रवणका विषय कहना है । यहांभी अङ्गोंसहित अङ्गीही विषय है । अङ्गी भगवान् है और उनकी दशप्रकारकी लीलायें अङ्ग हैं । इसका विवरण दशमाध्यायमें है, अत एव वहां सुबोधिनी का भाषान्तर करते समय उसकाभी खुलासा हो जायगा । किन शब्दोंका श्रवण कर्तव्य है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि '**श्रोतव्यविषयत्वेन** इत्यादि । अर्थात् दशविधलीला युक्त अङ्गी भगवान् को कहनेवाले शब्दवाक्य आदिका श्रवण करना चाहिये । समानरीतिसे अङ्गीका निर्धार और श्रवण, द्वितीय स्कंधमें हो चुका है । और जो दशविधलीलायें श्रोतव्य विषय बाकी रहा सो तृतीयस्कंधादि द्वादशस्कंध पर्यन्तके स्कंधोमें कहा गया है । यदि कोई कहैकि क्या द्वितीय स्कंधमें दशविधलीलायुक्त अङ्गीका निरुपण नहीं है? तो इसका उत्तर है कि अङ्गो के निरूपण में ही, मुख्य होने से अङ्गी का निरूपण तो स्वतः आजाता है । अंग किसके तो कहना होगा कि अंगी के । यद्यपि बिस्तार से अंगीका श्रवण अनन्त प्रकारका है तथापि संक्षेपमें दो प्रकार का है । सामान्य रीतिसे श्रवण, और विशेष प्रकारों सहित श्रवण । सामान्य अंगीमें भी उसके अंग विद्यमान हैं तथापि अप्रकट । और विशेष सहित अंगी में उसके अङ्ग प्रकट रहते हैं । तृतीय स्कन्धादि स्कन्धो में विशेषयुक्त अङ्गी श्रीकृष्ण का श्रवण है,और इसी लिये तत्तच्चरित्रों के द्वारा उनके विशेषों (अङ्गों) का स्फुट निरूपण है । और द्वितीयस्कन्ध में अप्रकटांग अंगी श्रीकृष्णका निरूपण हैं । लीला और धर्मादि सब ही उसके अंग हैं । विशेषों के भी विशेष होते हैं ।

उनका भी निरूपण उन्हीं स्कन्धों में है। इस तरह '**लीलाभेदे स्वरूपभेदः**' इस न्याय से अङ्गों का और अङ्गीका भी निरूपण अनन्त हो जाता है। इसका यह भी तात्पर्य है कि द्वितीयस्कन्ध में संक्षेप में उद्देशरूप से तृतीयस्कन्धादि के अर्थ, लीला, विशेष आदिका भी निरूपण कर दिया है। यहां एक यह प्रश्न होता है कि धर्म का निरूपण ही तौ श्रोतव्य विषय है, सो तौ किसी एक धर्मयुक्त का भी होसक्ता था? फिर सर्ग आदि दश प्रकार की लीलाओं से युक्त धर्मी का ही श्रवण होना चाहिये यह आग्रह क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि '**तदर्थमपरा कृतिः**' दशप्रकारक लीलाओं से युक्त धर्मी का ही श्रवण उपयोगी होता है। ऐसा यदि अभिप्राय न होता तौ आगे के तृतीयादिस्कन्धों का निर्माण ही निरर्थक होजाता। वैसे पद वाक्यों की भी अनुपस्थिति भी है ही। तौ फिर मनन तत्त्वध्यान आदि अङ्गों का भी विचार व्यर्थ होजाता। अङ्गी के निरूपण बिना अङ्गों का निरूपण व्यर्थ ही है। इसलिये आगे के तृतीयादिस्कन्धों की कृति सार्थक रही आवै इस हेतु से दशविधलीलायुक्त भगवान् का श्रवण ही कर्तव्य है। तौ अब सिद्ध हुआ कि सब ही स्कन्धों में दशविधलीलायुक्त अङ्गी श्रीकृष्ण का श्रवण श्रोतव्य विषय है और वह उचित ही है।

तौ अब एक यह आपत्ति आती है कि फिर इस द्वितीयस्कन्ध में शक्तितात्पर्य का निर्धार कैसे किया जाय। जब द्वितीयस्कन्ध में भी अङ्गी का ही निरूपण है अङ्गों का नहीं तौ फिर उनके बिना शक्तितात्पर्य का निर्धार किसके सहारे किया जाय। इसके उत्तर में कहते है कि '**शक्तितात्पर्यनिर्धारः**' इत्यादि। पद और वाक्यों की शक्ति और तात्पर्य का निर्धार सामान्यरीति से कर लिया गया है। अर्थात् विशिष्टरूप से नहीं पर परब्रह्म परमात्मारूप से ही सब शब्दों का और सब वाक्यों का एक ही अङ्गी अर्थ कर लिया है। यह शब्दादि की असंकुचित वृत्ति मर्यादा है। '**सर्वंखल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन**' इत्यादि श्रुतियां शुद्ध ब्रह्मवाद का ही निरूपण कर रही हैं। और '**स सर्वं भवति**' '**स आत्मानं स्वयमकुरुत**' इत्यादिश्रुतियां भी परमात्मा ही सबरूपों को धारण करता है, इस शुद्धाद्वैत का ही कथन कर रहीं हैं। ऐसी अवस्था में सब पद और सब वाक्यों की शक्ति और तात्पर्य का निर्णय सामान्य परब्रह्मरूप से होना ही श्रौत और युक्तिसंगत है। इसलिये मानना पडेगा कि इस द्वितीयस्कन्ध में सामान्यरीति से अङ्गी भगवच्छ्रवण रूप भगवान् का निरूपण भलें रहै, पर विशेषरूप से तौ तत्त्वध्यानादि अङ्गो का ही निरूपण है।

यदि यहां कोई प्रश्न करै कि जब अङ्गों का ही निरूपण द्वितीयस्कन्ध में हैं तौ फिर अङ्गी का निरूपण कहां रहा?। इस के उत्तर में कहते हैं कि—

अंगोक्त्यैव सुसंसिद्धोद्वितीयोऽङ्गविनिश्चये।

जब श्रवण के सब ही अंगों का निर्धार कर दिया गया तौ अंगी कैसे बाकी रहसक्ता है। अंगों के निरूपण मे ही, अर्थात् अंगी श्रवण का भी निरूपण होजाता है। एक के द्वारा अन्य की भी जब सिद्धि

होजाती है तो एक द्वितीयस्कन्ध मे ही तत्त्वध्यानादि अंग, और भगवच्छ्रवणरूप अंगी, दोनो का निरूपण विरुद्ध नहीं है। अत एव द्वितीयस्कन्ध में प्रधानरूप से श्रवणांगों का और आर्थिकरूप से साधारणतया श्रवणरूप अंगी का निरूपण है। और यह विरुद्ध नहीं, युक्त ही है।

यदि कोई कहे कि यद्यपि पृथिवी ही घट पट आदि सर्वरूप होगई, तथापि घट शराव आदि पदों की शक्ति उन उन पदार्थों मे हैं, पृथ्वी मे नहीं। इस तरह यहां भी क्यो न मान लिया जाय। अर्थात्— भगवान् ही सर्वरूप होगया है, यह ठीक है, तथापि घट पट स्वर्ग मोक्ष आदि पदों की शक्ति इन इन पदार्थों में ही रहनी चाहिये, भगवान् मे नहीं। फिर आप अन्य शब्दों की शक्ति का निर्धार भगवान् मे क्यों करते हैं ?। इस का उत्तर इस तरह दिया है—

'**कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः**' इत्यादि। इस का आशय समझाने के लिये यहां कुछ विशेष विस्तार करना आवश्यक है। श्रीमद्भागवत मे ही अन्यत्र कहा है—

ततोऽभूत्त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः॥
स सर्वोपनिषद्वेदबीजं ब्रह्म सनातनम्।

अर्थात् इस के अनन्तर त्रिवृत् किया हुआ 'ॐ' पैदा हुआ। इस ॐ कार में ही सारे शब्दो की किं बहुना वाङ्मयमात्र की उत्पत्ति छुपी हुई रहती है। बाहर देखने में तो इस एक शब्द (ॐ) का ही स्वरूप दीख रहा है, पर अन्तः प्रविष्ट होकर विचार करने पर मालुम होता है कि सारा शब्द जात इसी में से निकला है, यही सब का मूलरूप है,। इतना ही नहीं, नामरूपात्मक समग्र जगत् का मूलोपादान अक्षरब्रह्म, जोकि पुरुषोत्तम का धाम है, उस परमात्मा पर ब्रह्म का वाचक (नाम) भी है। परब्रह्म का नाम 'ॐ' है। अत एव नामात्मक जगत् का सनातन बीज भी यह ओंकार है। जैसे बीजसे अंकुर वृक्षपत्रादि उत्पन्न होते हैं, इसी तरह इस ओंकार से मन्त्र ब्राह्मण उपनिषत् पुराण स्मृति आदि शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है। और वेदादि शास्त्रीय शब्दो के ही विकृतिरूप लौकिशब्द हैं। प्रयोज्यवृद्ध और प्रयोजकवृद्धो के द्वारा परिवर्तित होते होते अनेक रूपान्तरों को धारण करते रहते हैं। ओं भगवन्नाम है और उसका अर्थ परब्रह्म है। जिस समय इस ओं बीज से शब्द जात पैदा होतें है तो वे भी भगवद्वाचक होते हैं, और उनका अर्थ भी परब्रह्म ही रहता है। किन्तु इस तरह व्यवहार नहीं चल सक्ता है। और न भगवत्क्रीडा ही चलसक्ती है। '**पुरुष एवद ँसर्वं भवति**' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जहां तक आधि दैविक जगत् रहा वहां तक तद्वाचक शब्दों से भी काम चलता रहा। किन्तु जब क्रीडार्थ भेद अपेक्षित हुआ और व्यवहार चलाने की अपेक्षा हुई और आधिभौतिक जगत् का भी आविर्भाव या उत्पत्ति करनी पडी तब शक्ति का संकोच करना ही पडा। शक्ति अंकोच करने से ही सर्ववाचक शब्दों को नियतार्थ वाचक मानना होसक्ता है और तब ही सर्वव्यवहार चलसक्ता है। '**अनेन**

जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नामरूपे व्याकरणि ' ' **सर्वाणि रूपाणि विजित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते** ' पहले ' **सर्वे सर्वार्थवाचकाः** ' सब शब्द सब पदार्थों को कहनेवाले थे किन्तु अब उनकी शक्ति का संकोच कर दिया । ' **व्याकरवाणि** ' भगवान् ने कहा कि अब से सब शब्दों का सब कुछ अर्थ नहीं है । और न सब शब्दों का परमात्मा ही अर्थ है । अब से मैंने अपने रूप और नामों का व्याकरण विवेक पूर्वक पृथक् पृथक् करण करदिया है । अमुक इतने मेरे रूपों को मैंने लौकिकरूप दे दिया है अत एव शब्दों की भी शक्ति का संकोच करके अमुक उन उन नियत पदार्थों में ही उन की शक्ति नियत कर दीगई है । वास्तव में तौ सब शब्दो की शक्ति ब्रह्म मे ही है ' **सर्वाणि** ' इत्यादि श्रुतिका भी यही तात्पर्य है । यही कारिका में कहते है कि ' **कृष्णस्य सर्वरूपत्वे** '। चतुःश्लोकी भागवत में भी ' **अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्** ' सृष्टि के पूर्व और सृष्टि के प्रारम्भ में सत् (व्यक्त) और असत् (अव्यक्त) तथा सदसत् से विलक्षण भी जो कुछ था वह सब मै (परब्रह्म , ही था । मेरे सिवाय कुछ नहीं था । मैंने ही सबरूपों को धारण किया है ।

इस तरह परब्रह्म की सर्वरूपता सर्वत्र प्रकाशित की है । और इसी से एकादशस्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है कि '**मां विधत्तेऽभिधत्ते मां** ' सम्पूर्ण वेद और वैदिक शास्त्र मेरा ही विधान करते हैं, और मुझे ही अनेक नामों से कहते हैं, यदि भगवान् श्रीकृष्ण ही सब लौकिका लौकिक पदार्थरूप होगये हैं, यह सिद्धान्त न होता तौ, ये पूर्वोक्त बातें कैसे बनसक्तीं थीं । और पूर्वोक्त शास्त्रों का भी समन्वय कहां कैसे होता । सब पद और सब वाक्यों की शक्ति और तात्पर्यों का असंकोच रखने से नामरूप की भगवद्रूपता सिद्धरहसक्ती है । अन्यथा नहीं । जो लोग जाति, तद्विशिष्टव्यक्ति और प्रवाह में शक्ति मानने के पक्षपाती हैं, उनके मतमें यह सिद्ध नहीं होसक्ता कि भगवान् ही संवरूप होगया है, और घट पट आदि सब नाम भी वास्तव में भगवान् के है । इसलिये मानना पडैगा कि ये सब पक्ष शक्तिसंकोच के बादही प्रकाशित हुए हैं ।

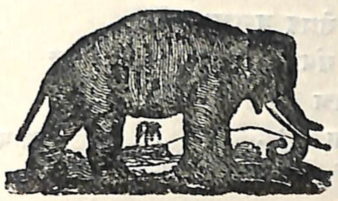
हां तौ अब सिद्ध होचुका है कि दशविधलीला युक्त अंगी श्रीकृष्ण ही सब स्कन्धों का श्रोतव्यविषय है । यदि ऐसा न होगा तौ शक्तिसंकोच के द्वारा शब्दतौ अनन्त हो जायगे ? रहैंगे भी, तौ अब उन सब का एक ही समय में एक ही वक्ता कह कर या गिनाकर उम्रभर उन की सम्पूर्ति नहीं कर सक्ता अत एव ' **श्रोतव्यः** ' इसविधिका कहीं भी जाकर कभी भी पर्यवसान (होचुकना) नहीं होगा। यदि कहो कि पदवाक्यों की शक्ति और तात्पर्य का निर्धार थोडा बहुत हो ही सक्ता है उसे ही श्रवण मान लेना उचित है । किन्तु यह भी ठीक नहीं है । क्यों कि प्रथम तौ वह सर्वात्म श्रवण ही नहीं कहा जासक्ता । न्यून हो नेसे । और फिर कुछ थोडा मात्र श्रवण तौ सब ही कर सक्ते हैं उन सब की मुक्ति प्राप्त होगी । पर ऐसा होता नहीं । पूर्ण श्रवण के अनन्तर ही मुक्ति संभव है । इसपक्ष मे यह अनुभव का विरोध है । इसलिये पूर्ण श्रवण की विधि सार्थक हो, इस लिये, तथा अग्रिम स्कन्धो के निर्माण

को भी सार्थकता आजाय, इसलिये भी, दशविधलीलायुक्त सर्वात्मा श्रीकृष्ण ही श्रवण का विषय है, यह मानना उचित है। अर्थात् शक्तितात्पर्यों का असंकोच मानकर अन्तरङ्ग धर्मी को श्रवण का विषय मानना और उन का संकोच मानकर (करके) दशविध लीलाओं को श्रवण का विषय मानना उचित है। इस से सब स्कन्धो की सार्थकता होरहती है।

कितने ही कहते हैं कि यह बात तौ रूपान्तर से मीमांसा मे ही सिद्धथी। '**आत्मा वारे श्रोतव्यः**' यह श्रुति सर्वज्ञता होनेके लिये श्रवण की विधि कहती है। क्यों कि '**आत्मनि वा अरे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं**' इत्यादि श्रुतियों मे कहा है कि सर्वात्मा को जानलेने से यह सम्पूर्ण जगत् जान लिया जाता है। तौ यह सिद्ध है कि आत्मा के ज्ञान से सर्वज्ञानरूप फल की प्राप्ति होजाती है। अर्थात् इन श्रुतियों का भी मीमांसा के द्वारा यही तात्पर्य निकलता है कि वह भगवान् ही सर्वरूप होगया है अत एव इस के जान लेने से सर्वज्ञता होजाती है और यह श्रवण विधि भी भगवान् की सर्वरूपता को समझ लेने के लिये कही गई है। बहुत से विद्वानोने इस श्रवणविधि का इसी प्रकार से विचार भी किया है। तौ फिर आप दशविधलीलायुक्त, ऐसा विशेषण क्यों लगाते हो?। इस का उत्तर देते हैं कि '**गुणातीतस्वरूपत्वे**' इत्यादि। यह सिद्धान्त गुणातीत (तिरोभूतगुणधर्मवाले) स्वरूप परब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियों का है। पर भगवान् का एक ही स्वरूप तौ नहीं है। भगवान् के अनन्तरूप हैं। अन्यथा न्यूनता अपूर्णता दोष आजाता है। पूर्णभगवान् के दो स्वरूप सर्वसिद्ध हैं, गुणातीत और अनन्तकल्याणयुक्त। वेद में '**आत्मा वा रे**' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियों के द्वारा प्रायः निर्गुण स्वरूप का ही निरूपण किया है। और वेदातिदेश पुराणो मे प्रायः अनन्तकल्याणगुणयुक्त स्वरूप का वर्णन किया गया है। वेद का अधिकार बहुतथोडे स्थल में है। पर पुराणों का अधिकार बहुत विस्तार मे है। भगवान् के निर्गुण अव्यक्तगुणस्वरूप को समझकर उस की प्राप्ति कर लें ऐसे अधिकारी बहुत ही थोडे हैं। किन्तु सगुण (कल्याणगुणयुक्त) स्वरूप में आसक्ति रखनेवाले और समझलेने की शक्ति रखनेवाले प्रायः सबही हैं। ऐसी अवस्था में यदि वेदके निर्णय के अनुसार ही यहां भी निर्णय किया जाय तौ निर्गुण भगवान् ही श्रवण का विषय रहैगा। पर यह उचित नहीं है। '**बहूनामनुग्रहो न्याय्यः**' बहुतों की चाहना और ज्ञान पर अनुग्रह करना दृष्टि देना न्याय है। श्रुतियां (शब्द) निर्गुण हैं। इन का वर्णित भगवान् निर्गुण रहै। पर सब ही निर्गुण स्वभावके जीव नही है। जो कल्याणगुणासक्त पुरुष हैं, उन के लिये पृथक् निर्णय करना ही चाहिये। इस लिये पुराणो की प्रवृत्ति है। उत्तममध्यमाधम सब ही अधिकरियों पर अनुग्रह करना दयालु का कर्तव्य है। यह भगवद्धर्म है। अत एव पुराणें वेदोंसे भी श्रेष्ठ हैं। पुराणो मे अनन्त गुण भगवान् का पृथक् पृथक् अनेक रूपों से निरूण हैं अनेक अधिकारियों के लिये। श्रीमद्भागवत मे भी, जो भगवान् जगद्रूप होकर, तत्त्वरूप होकर, या अन्यरूपों का ग्रहण कर सर्वोद्धार के लिये प्रकट हुआ है वही श्रवण का विषय है। और इसी लिये श्रवण का अङ्ग तत्त्वध्यान को कहा है। तत्त्वध्यानाध्याय (प्रथमाध्याय) में

भगवान् के श्री अंगो में तत्त्वों की स्थिति बताई है । अत एव कहना होगा कि उन उन तत्त्वों को कहने वाले पद भी भगवान् के उन उन अवयवों को कहते हैं । अर्थात् सब ही शब्द भगवान् का ही वर्णन कर रहे हैं । इस रीति से तत्त्वध्यान को अंगता और अन्तरंगता कही गई है । यह तत्त्वध्यान अन्तरंग अंग हैं, इसलिये ही सूक्ष्मध्यान के पहले इस का निरूपण किया है । सूक्ष्मध्यान में साक्षात्स्वरूप निरूपण है, उस के पहले स्थूलध्यान (तत्त्वध्यान) अंग का निरूपण युक्त ही है । इस तरह द्वितीयस्कन्ध के ध्यानप्रकरण का निरूपण किया गया । इस प्रकरण में दो अध्याय हैं । पहले अध्याय में तत्त्वध्यान है और दूसरे में स्वरूपध्यान है । इस तरह इस निबन्ध में अंगनिरूपण के द्वारा ही शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ, और अध्यायार्थ का भी निरूपण कर दिया गया । भगवच्छ्रवण ही शास्त्रार्थ, है । श्रवणांग निरूपण स्कन्धार्थ है । ध्यान ही प्रकरणार्थ है । तत्त्वध्यान और स्वरूपध्यान, क्रमशः प्रथम द्वितीय अध्यायों के अर्थ हैं । और इसी लिये भगवच्छ्रवणरूप शास्त्रार्थ सर्वत्र अनुस्यूत होकर एकार्थ हैं ।

इस तरह भागवतार्थनिबन्ध के द्वितियस्कन्ध प्रथमाध्याय की देवर्षि रमानाथशास्त्रीकृत भावबोधिनी टीका सम्पूण हुई ।



साम्प्रदायिक पुस्तके २५ टका कमीशन से दी जायगी टीप्पणी का कमीशन नही ।

श्रीमद्भागवत श्रीसुबोधिनीजी प्रथमस्कन्ध संस्कृतमे १)
द्वितीयस्कन्ध ,, २)
,, ,, तृतीयस्कन्ध प्रकाशसहित ६)
,, ,, द० पूर्वार्ध राजस प्रमेयप्रकरणम २।॥)
,, ,, उत्तरार्ध राजस साधन ,, १।॥)
,, ,, ,, ,, फल ,, १॥)
,, ,, ,, तात्विक प्रमेय ,, १।॥)
,, ,, ,, ,, साधन ,, १॥)
,, ,, ,, ,, फल ,, १॥)
उत्सवप्रतान श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज कृत २)
श्रीवल्लभदिग्विजय भाषाटीका सहित ।॥)
श्रीवल्लभदिग्विजय गुजराती भाषा में ॥≈)
श्रीनवरत्न शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डश्च भाषाटीका टिप्पणी ।-)
कडोप निबद्धाष्य अपूर्व भारतमार्त्तण्ड विरचित ॥)
शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड गुजराती भाषामें ।)
नवरत्न भाषाटीका टिप्पणी सहित -)
नवरत्न गुजराती भाषा सहित -)
श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता व्रजभाषामें ॥)
श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता गुजराती भाषामें ॥)
वैष्णवोपयोगी संग्रह व्रजभा सहित -)
वैष्णवोपयोगी संग्रह गुजराती भाषा सहित -)
श्रीपुरुषोत्तमस्तोत्र संस्कृतटीकाद्वय ।॥)
गुजराती भाषा ≈) ,, ,, व्रजभाषा ≈)
कामाख्यदोषविवरण हिंन्दीटीका-गुर्जरटीका -)
साहित्य वैभव ,, ,, ,, ५)
श्रीपुरुषोत्तमयोग । भगवद्गीता ,, ,, ।≈)
मूलपुरुष ,, ,, ,, ,, ,, -)
ईश्वरदर्शन ,, ,, ,, ,, ,, ।)
श्वेताभिषेक ,, ,, ,, ,, ,, =)
श्रीनाथपञ्चाङ्ग सम्वत् १९९८ का ,, ,, ≈)
टिप्पणी सम्वत् १९९७-९८ के उत्सवकी -)

ग्राहको को स्मरणरहै कि १) रुपेसे कमकी वी. पी. यहांसे नहीं भेजी जायगी ।
ठिकानो—श्रीगोवर्धन पुस्तकालय अथवा श्रीविद्याविभाग नाथद्वारा ।

श्रीसुदर्शन यन्त्रालय “ श्रीनाथद्वारा ”